क्वारे सपने

(मौलिक सामाजिक कथाकृति)

उपन्यासकार—

जयप्रकाश शर्मा

मनोरमा प्रकाशन गृह

नई दिल्ली

प्रकाशक :

मनोरमा प्रकाशन गृह

टी. ८४ जंगपुरा, नई दिल्ली

[प्रथम संस्करण अक्टूबर १९६१]

मूल्य दो रुपये पचास नए पैसे

मुद्रक—हीरो प्रेस, चावड़ी बाजार दिल्ली

समर्पित :

पिछले दशक में हिन्दी पाठकों में
सबसे अधिक पढ़े जाने वाले
यशस्वी कथाकार
और
अपने अग्रज
श्री ओमप्रकाश शर्मा को
सादर और अन्यतम श्रद्धा के साथ

जयप्रकाश शर्मा की अन्य पुस्तकाकार कथाकृतियाँ

* निशा डूबती है
* चाँद का दाग़
* लोक लाज
* धरती मैया
* नये सुबह की पहली किरण
* धूल भरा धरती का प्राँगण
* पत्थर का बुत
* तिनके का सहारा
* गीत सो गये

और

* सिन्दूर की राख

पहला खण्ड

करील की छाँह

मरना बहुत सहज है
पर जीना उतना ही दुश्वार है,
मरने को एक क्षण चाहिये,
और जीने को पूरा युग—
फिर भी इंसान जिन्दा रहता है,
क्योंकि उसका ध्येय जीवन है,
भले ही वह करील की छाँव के तले ही क्यों न बितावे,
और काँटों की राह पर चलता हुआ ही
काँटों की चुभन से लहू लुहान होकर
मृत्यु की गोद ही क्यों न सो-जाय—
इसलिए कि
जीवन, जीवन है
वह पुनः जीकर मौत से पंजा लड़ा सके।

[ताशकंद के एक लोक गीत
पर आधारित
भाव चित्रण]

एक

* * *

'दिव्या ऽ ऽ'

दर्द भरी इस छोटी सी चीख ने अचानक ही दिव्या को उठने के लिये मजबूर कर दिया। यह सुधीर की आवाज थी। अभी रसोई से उठा था। जबरदस्ती ज्यादा खिलाने की शिकायत करते-करते वह उठा और बाहर छत पर आगया। जाने क्या हो गया है इस बिजली विभाग को। उसके उठते ही अन्धेरा गुप्प एक साथ पूरी बस्ती में अजीब सा शोर हुआ और अन्धेरा जैसे पूरी बस्ती को लील गया। पर दिव्या नहीं उठी। आखिरी दो ही फुलके शेष थे। अन्धेरे में चूल्हे की रोशनी राह दिखला रही थी। आग की लपटों में दिव्या का चेहरा चमक रहा था। अचानक सुधीर की इस दर्दभरी चीख को सुनकर उसका दिल दहल सा गया। रोटी तवे पर छोड़ कर आई और अन्धेरे में उसका हाथ पकड़ कर बोली—'क्या हुआ है।'

'दर्द।'

'कहाँ पीठ में।'

'ना, पेट।'

'मैं तो कहती ही···'

सुधीर गुस्से से बौखला उठा,'क्या खाक कहती थी। यह भी खाओ, वह भी खाओ, ऐसे भी खाओ, वैसे भी खाओ···खिला-पिला कर दर्द

कर दिया अब तो सन्तोष आया, और खिला…'

'सुधी…'

'कह चुप क्यों रह गई। कह न।'

जाने किस तरह दिव्या कह ही गई, 'खाने से दर्द नहीं हुआ है। देखूँ तो कहाँ है यह दर्द…' कह कर उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया, तभी छत बिजली के प्रकाश से आलोकित हो उठी। दिव्या का हाथ जहाँ था वहीं स्थिर हो गया। ऐसा लगा जैसे वह चोरी करती पकड़ी गई हो।

सुधीर को ऐसा महसूस हुआ जैसे दर्द कुछ कम हो कर और बढ़ेगा, और बढ़ता ही जायेगा। वह सांस रोक कर खाट पर लेट गया और दिव्या उसी तरह निश्चल रही। बिजली के आते ही पुन: बस्ती जैसे जाग सी गई थी और दिव्या सोच रही थी कि यह डायन बिजली कहाँ से आ मरी।

'दिव्या बेटी।'

एक अधेड़ व्यक्ति का मृदु स्वर उसके कानों में पड़ा। हरिनाथ पुकार रहे थे उसे। पड़ौसी होने के नाते ही इन दोनों परिवारों में मेलजोल नहीं, एक तरह से एकाकारपन है, जिसका लाभ दोनों ही परिवारों को होता है। दोनों परिवारों के बीच है एक दिवार। जिसमें भी झरोखे हैं। झरोखों को छेद कर ही यह आवाज आ रही थी। एक बार की आवाज वह पीसी गई। कोई उत्तर उसने नहीं दिया। कुछ देर बाद दूसरी आवाज आई' दीवों।'

'हाँ बाबू जी।'

'बेटी, खाना खिला दिया सुधी को।'

'जी।'

'और रसोई का राम…'

'सो ही कर रही हूँ, बाबू जी।'

'कर के जल्दी आ तो, देख मैं क्या लाया हूँ।'

'जी अच्छा।'

उधर हरिनाथ मौन और इधर दिव्या अपने कार्य में लवलीन। खाट पर लेटा सुधीर सितारों की दुनिया में खो गया था। उसके पेट में अक्सर यह मोठा-मीठा दर्द उठा करता है। और फिर अनायास ही उसे अपने ऊपर हँसी आ जाती थी। क्या दिया है भगवान ने; एक बाप; जिसे सुबह से शाम तक घूमना होता है, ताकि चाय के आर्डरबुक करके दो सौ रुपल्ली घर ला सके। एक विधवा बहिन जिसके माथे में सिन्दूर एक साल भी विधाता न देख पाया। परिस्थिति के क्रूर हाथों ने उसे वैधव्य भोगने पर मजबूर किया। पर उसे सुहागन बनाने के लिये जो कर्जा दहेज और शादी के लिये लिया था, वह ज्यों का त्यों खड़ा है। इसके अतिरिक्त है उसके पास एक बी० ए० की सनद जिसमें यह घोषित किया गया है कि उसने विश्वविद्यालय में रह कर चार बरस पढ़ाई की; पर पास हुआ तृतीय श्रेणी में। यह तृतीय श्रेणी जैसे उसके भाग्य पर एक कलंक है और वह इस कलंक के साथ-साथ धरती का बोझ बना है। सुबह लोग काम पर जाते हैं और वह जाता है काम तलाशने। शाम को थके मांदे लौटते हैं; पर उनके चेहरे पर संतोष की एक झलक तो होती है कि वे कुछ करके लौट रहे हैं। पर सुधीर के माथे पर होती है निराशा, उदासी और परेशानी। हर सुबह सूरज की किरण के साथ-साथ एक आशा उदय होती है, एक आस पैदा होती है पर शाम होते ही वह किसी गरीब के दिये की तरह बुझ जाती है। खाना खाते ही यह मीठा-मीठा दर्द पैदा होता है और फिर सारी रात तारों के साथ जिन्दगी जलती-बुझती रहती है।

अपने सिरहाने आहट पाकर सुधीर ने आँखें खोल दी। दिव्या खड़ी थी उसके सिरहाने, मौन, विनीत और जाने को प्रस्तुत। जाने उसकी आँखें क्या कहना चाहती थीं, क्या पूछना चाहती थी। एक बार तो आँखों को देख कर वह कुछ डर सा गया। पर इस डर को दिव्या ने ही

खत्म कर दिया, बोली, 'दर्द कैसा है।'

'है ही।'

'मेरी गल्ती से ही हुआ है ना।'

'तो क्या मेरी से !'

सुधीर ने एक करवट ले कर कहा, और चुप हो रहा। पुन: भी चुप्पी दिव्या ने ही तोड़ी।

'मैं जाऊँ।'

'हाँ।'

'ज्यादा दर्द तो नहीं है।'

'हो भी तो हम क्या कर सकते हैं।'

'बाबू जी को पुकार लूँगी मैं।'

'बाबू जी डाक्टर तो नहीं है...'

'पर वे डाक्टर को पुकार तो सकते हैं।'

सुधीर ने जरा तन कर कहा—'हाँ, पुकार तो सकते हैं। पर डाक्टर की फीस, दवा इन सबका क्या होगा। अगर पैसा होता तो क्या जीजी को इतनी देर लगती। चार-पाँच मील पैदल चल कर आयेंगी वे। दिव्या हम लोगों के मर्ज की दवा डाक्टर नहा, काम है। हमें तीन टाइम ख़ूराक के बदले चाहिये दो वक्त संतोष की रोटियाँ, और काम...'

दिव्या मुस्कराई। बोली—'अच्छा, अच्छा। नेता जी अब भाषण बन्द करो और आराम से सोजाओ। विनोद आ गया होगा। उसके हाथ मैं चूर्ण भेज दूँगी, ले लेना। देखो शायद जीजी भी आने वाली हो, हाँ...'

'हूँ।'

'हूँ नहीं हाँ कहो, अब मैं जाती हूँ। क्या कहते हैं उसे गुडनाइट।'

कहकर दिव्या चली गई।

दो

* * *

सारी रात सुधीर की करवटें बदलते ही बीती। दिव्या के चले जाने के बाद ही माधुरी आ गई थी। यूँ स्वजन और रिश्तेदार विधवा की छाया से भी डरते हैं; पर जैसे ही किसी नौकरानी की जरूरत पड़ती है तो उसे ऐसे माँग कर ले जाते हैं; जैसे ढोरों को हाँक लिया जाता है। आज कहीं किसी रिश्तेदारी में कोई काम रहा था, इसीलिए सुबह ही उसे सुधीर छोड़ आया था। शाम को लाने की व्यवस्था रिश्तेदारों ने अपने ऊपर ली थी; पर सुधीर जानता था कि जो लोग साथ ले जा नहीं सके वे लायेंगे क्या ?

लगभग साढ़े दस बजे माधुरी आई। सुधीर के पिता दुर्लभ चन्द किसी काम के सिलसिले में बाहर गये हुए थे। आते ही माधुरी ने सुधीर को टटोल कर देखा, कहीं माथा गरम तो नहीं है और फिर जैसे ही वह कहा ही न वह वस्तु स्थिति जान गई। सुधीर की रात ऐसे ही कटती है। और इसका कारण है चिन्ता। सुधीर अचानक ही अपनी उम्र से कई साल ज्यादा बूढ़ा हो गया है और उसे तारा पांडे का भय सुबह से शाम तक खाता रहता है। और तो और सपने में भी उसे अक्सर तारा पांडे ही दिखलाई देता था। माधुरी आ गई थी यह जानकर उसे कुछ संतोष हुआ, पर दर्द तो उसी तरह जारी थी। ऐसा महसूस होता था कि सारा रास्ता उसने पैदल चलकर ही तय किया था। इसलिए वह

काफी थकी थी। उसने ज्यादा बातचीत नहीं की। वहीं छोटे से खटोले पर पड़ गई और कुछ देर बाद ही नींद ने आ दबाया। पर सुधीर को नींद नहीं आई। आती भी कैसे? असफलताओं से घिरा वातायान, घुटा वातावरण और कालिमा लिए वह आकाश, जिसमें सिर्फ टिम-टिमाते तारों का मध्यम प्रकाश है और यह आस। बार-बार उसे ऐसा महसूस होता था कि वह इस अंधियारी काली रात में कहीं भटक गया और सवेरा खोजने पर भी नहीं मिल पाता। रह रहकर उसकी आँखें आसमान पर स्थिर हो जातीं और बार-बार वह सोचता—काश! एक बार वह जिन्दगी की ऐसी सुबह देख सके जिसमें माधुरी के माथे पर सिन्दूर हो, और पिता जी के हाथ में मंगल कलश।

मंगल कलश की भी अपनी एक कथा है। यूँ दुर्लभ चन्द मैं किसी धर्म का कोई मिश्रण नहीं—पर उन्होंने किसी देवता या देवी की मनौती मानी हुई है कि जिस दिन इस सूद खोर तारा पांडे से पीछा छुटेगा, उसी दिन वे एक मंगल कलश देवता को अर्पित करेंगे।

यही मंगल कलश रह-रहकर सुधीर के सपने में आता आरे फिर दीख पड़ती नयी सुबह की एक जगमगाती किरण। पर यह बात है सपनों की। अचानक ही आँख खुलती तो वही उदासी उसके इर्द-गिर्द मंडराती और वह अंगुलियाँ चटकाता हुआ वह उठ बैठता।

ऐसी ही थी अगली सुबह।

जैसे ही फैंकटरियों के भोंपू का रूदन हवा में गूँजता है पूरी बस्ती में एक हड़बड़ी मच जाती है। आज की सुबह में भी ऐसी ही हड़वड़ी थी, वह दरी समेट रहा था पर जो स्वर उसे उठाता था वह न जाने आज कहाँ लोप हो गया था। बुहारी देती हुई दिव्या का मधुर कँठ प्रतीक्षा करने पर भी नहीं सुन पाया तो उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे सुबह नहीं हुई है। सुबह होती तो दिव्या जाग न जाती। बस इसी कारण से वह

पुनः लेट गया। और जब दिव्या का स्वर घहरा तो वह पुनः निद्रा देवी की गोद में जा चुका था। उसे वही मंगल कलश दीख पड़ा। कैसी अजीब बात है। उसे सपना भी दिखाई देता तो भी मंगल कलश का अजीब सपना था। पर उससे भी अजीब बात हुई उस समय जब माधुरी ने आकर जगाया। धूप खिल आई थी चारों तरफ। पर माधुरी का स्वर संयत नहीं था। वह रो रही थी। बुरी तरह रो रही थी। उसके आँसुओं का बाँध जैसे टूट गया था। सुधीर नहीं उठा तो उसने अपना सिर मुँडेर में दे मारा। मुँडेर से सिर मार कर कूदने ही वाली थी कि एक तरफ से सुधीर और दूसरी तरफ से विनोद दोनो ने आकर उसे पकड़ा। सुधीर को आया देख विनोद तो पुनः लोप हो गया, पर सुधीर तमक उठा !, यह क्या बचपना है।'

'मैं बच्ची हूँ क्या जो बचपना करूँगी।'
'नहीं तू तो दादी है, क्या हुआ है तुझे।'
'मरना चाहती हूँ।'

सुधीर को फिर क्रोध आया, चीख कर बोला, 'क्यों, मरना क्यों चाहती है।'

'जी कर क्या करूँ। बहुत दुख दिया। जिस घर में पैदा हुई उस घर को खा गई और अब इस घर की तबाही देखूँ। मैं जिन्दा रहूँ आ देख, देख इधर। अब इस घर में झाड़ू फिरेगी और मैं जिन्दी रहूँगी। बाबू जी हैं नहीं और ये सत्यानासी तारा पांडे, पर इसका भी क्या कसूर है बनिया तो ब्याज लेगा ही। मेरा नसीब ही फूटा है······' सचमुच सुधीर ने देखा कि तारा पाँडे पूरे लाव लशकर के साथ मौजूद था। आज यह जरूर पूरे घर की कुर्की करायेगा। सुधीर हतप्रभ हो गया। पर फिर भी थोड़ा सा आश्वस्त होकर बोला, 'जीजी, तू अपना काम कर।'

'क्या काम ?'

'जो तेरा काम है, खाना बनाना मेरा काम है क्या बोल—'अभी रसोई में धकेल कर वह नीचे उतरने लगा। पर जीने के बीचों बीच खड़ा होकर सोचने लगा; जायेगा किस मुँह से। क्या है उन लोगों के देने के लिए उसके पास। वह खड़ा था इधर और उधर माधुरी सिसक रही थी।

क्या करे ?

तीन

* * *

हरिनाथ जाग उठे थे। सूरज बस्ती की बड़ी इमारतों पर आसन जमा चुका था और दिव्या बुहारी देते-देते उसे कुछ गुनगुना रही थी कि उसे पिता की आवाज सुनाई दी; पानी रख दिया।

'हाँ······'

'और तौलिया।'

'नहीं है क्या ?'

'कहाँ है यहाँ।'

श्री हरिनाथ की पत्नी रसोई घर में थी। दफ्तर जाने से पहले खाना होना ही चाहिये, पर अगर रसोई को छोड़ भी दिया जाये तो चूल्हा ही चट कर जायेगा सब कुछ। पर हरिनाथ को चैन नहीं, वे चीख रहे थे 'श्री······'

'हाँ।'

'तौलिया।'

उन्होने उत्तर न पाकर जोर-जोर से चीखना शुरू किया, 'कब नहाऊँगा, कब खाऊँगा और कब दफ्तर जाऊँगा, अजी तुम जरा तकलीफ करो न ?'

इधर मैं तकलीफ करूँगी और उधर दाल तकलीफ करेगी। समझे······'

'समझा' हरिनाथ ने झुँझला कर कहा—'चूल्हे पर चढ़ी रहना और वहीं से······'

'हाँ-हाँ—' रूँधे कंठ से श्री बोलने ही वाली थी कि धुयें के एक ही हमले से चुप होगई और तभी दिव्या उतर आई, हरिनाथ ने आते ही कहा—'वाह, दिव्या बेटी पास और हम विरान ! बेटी जरा तौलिया तो ढूँढ दो !'

'लीजिये—' हरिनाथ के कँधे से तौलिया उठा कर दिव्या ने थमाते हुये कहा, 'बस बाबू जी। गुसल खाने में पानी रक्खा है - तेल भी है और साबुन भी।'

'शाबास—दिव्या बेटी नहीं बेटा है। बेटा नहीं वरदान है। ठीक है ना बेटी······'

दिव्या ने प्रतिरोध किया, 'सो तो नहीं मानती बाबू जी। आप कह रहे हैं तो ऐसा ही होगा—मगर बातों ही से तो पेट नहीं भरता। कभी आफत ठहराते हैं, कभी वरदान। क्या अछूत वरदान ले पाये है और हम अछूत नहीं हैं तो हैं क्या। आपने कभी रसोई खाई हमारे हाथ की।'

'ओह हो—' हरिनाथ ने बात बदल कर कहा—'दिव्या बेटी—आज जाने से पहले पाँच रुपये ले लेना, समझी। फिर दो क्षण के अन्तराल के बाद पार्श्व के शोर से घबरा कर बोले: यह अब क्या लगता है तारा पाँडे फिर आ गया है। देखता हूँ जाकर—'

पाँच मिनट बाद ही वह लौट कर आये और दिव्या को बुला कर बोले—' देख तो दिव्या—दो सौ रुपये रक्खे होंगे सन्दूक में। दे दें तो तारा पाँडे से पिंड छूटे। कम्बख्त तब आया जब दुर्लभ ही नहीं। और रौब तो देखो पुलिस लाया है, अदालत लाया है। कुर्की लाया है।'

रसोई में बैठी श्री ने पुकारा—'क्यों जी—यह रुपये खर्च तो करे

डालते हो—अगर कोई लड़का मिल गया तो इन्तजाम हो सकेगा।'

'क्यों न होगा—' हरिनाथ ने तन कर कहा, 'और न भी हो—तो भी क्या तारा पाँडे मनमानी कर सकेगा। दुर्लभ घर नहीं है तो क्या घर की कुर्की कर डालेगा। कहीं न कहीं का।'

इसी बीच दिव्या ने सन्दूक से लाकर रुपये दिये और वह नंगे बदन बाहर आये। तारा पाँडे के सामने रुपये रख कर बोले; 'लीजिये, एक किश्त!'

गुजराती ढंग का थुल-थुल शरीर और दिल्ली जैसा यह लाला पहने मोटे तारा पाँडे ने जबान को चटखारे देकर कहा—'हाँ, हाँ ढाई सौ रुपये खर्च कर दो सौ रुपये लूँ, ना बाबा ना। यह मुझ से न होगा।'

'तो क्या होगा?'

'कुर्की—झाड़ू दिलवा दूँगा, समझे।'

अब तक सुधीर चुप था, अब रौब में आकर बोला—' तो फिर चुप क्यों हैं! यह सेठ या नबाव का घर नहीं है जहां ईंट के नीचे हीरे मिलेंगे।'

'मगर मैंने तो हीरे ही दिये थे। मुझ को क्या मालूम था कि पेट की रकम, बाल बच्चों का गला, धूप का पसीना और······अब इस तरह बर्बाद होगा! पर हाँ, तुम ठहरे दफ्तर के बाबू, गवर्नमेंट के नौकर—तुम्हारी गारन्टी से यह अब लिये लेता हूँ। लाइये—दीजिये दो सौ रुपये। और हर महीने इसी तारीख को घर बै` अगर ढाई सौ रुपये नहीं पहुँचे तो देखना।'

'जी!'

'जी, नहीं साहब नौकरी चली जायेगी आपकी, क्यों थानेदार जी—' कह कर तारा पाँडे ने सबके सामने दस रुपये थानेदार को और

दस रुपये अदालती मुन्शी को देकर कहा—'देखिये, आये डेढ़ सौ। रसीद मँगवा लीजिये !'

'बस डेढ सौ ही......'

तारा पाँडे ने कहा—' तो और क्या ढाई सौ। और अदालत क्या मेरे बाप की नौकर है। तीस रुपये तो आने जाने में खर्च हो गये होंगे। भले आदमियों—मैंने तो अपना समझ कर इन्हें बीस दे दिये हैं कि कहीं फिर बाद में तंग न करें !'

थानेदार अप्रत्याशित बात सुनने को तैयार न था, तड़प कर बोला—'यह लो दस रुपये और चलो मेरे साथ थाने, मुझे रिश्वत देते हो। कुर्की होगी और आज होगी; समझे !'

'नहीं समझा हुजूर ! आखिर नाराज होने वाली बात क्या है—यह देखिये मेरी टोपी, कुचल डालिये इसे किन्तु मेरी बात रख लीजिये।'

'कैसी बात...'

तारा पाँडे ने पाँच-पाँच रुपये और डाले और मुस्कराता हुआ बोला, लौट चलिये ना हुजूर ! भला आपका यहाँ क्या काम ? आइये, आइये ना।'

चार

* * *

हरिनाथ थाली पर बैठने ही वाले थे कि पूजा घर से दिव्या की आवाज आई, 'बाबू जी, पूजा नहीं करेंगे!'

'जरूर—' न चाहने पर भी हरिनाथ को उठना पड़ा और परसी हुई थाली को छोड़कर घर के सबसे अच्छे भाग में आये जिसे आज तक पूजाघर, अतिथालय, ड्राइँग रूम, पढ़ने का कमरा और पुस्तकालय तथा न जाने क्या-क्या कह कर इस्तेमाल किया जाता था। दिवारों पर एक दृष्टि डालिये—बहुत ही कलात्मक चित्र हैं। कुछ खरीदे गये हैं—और कुछ अच्छी मैगजीनों से निकाल लिये गये हैं। फर्श पर फटी-सी किन्तु धुली हुई दरी, उस पर चाँदनी, दरी ओर दो घर के तैयार किये तकिये, एक डैस्क और दो किताबों से भरे रैक। बाँयी ओर जहाँ दरी का अन्तिम छोर है वहाँ एक कुर्सी और किताबों से लथ पथ मेज है। यहीं से द्वार खुलता है इस लिए आते-आते जैसे ही हरिनाथ टक, राए, किताबें दनादन फर्श पर बिछती चली गई।

किन्तु क्योंकि दिव्या पूजा पर बैठ चुकी थी, और छोटे-मोटे काम हरिनाथ नहीं करते थे, इसलिए कुछ बड़बड़ाते तहमद लपेटे आ बैठे। बिल्कुल शाँत, बिल्कुल भोले किन्तु खुली आँखों से—इसलिए कि वे थे बौद्धिक आस्तिक। एक तरफ चाहते थे यह समाप्त होजायें,

मन्दिरों और मस्जिदों की अचल सम्पत्ति शिक्षण संस्थाओं को तकसीम कर दी जाये—किन्तु दूसरी ओर गोविन्द स्त्रोत्रम और दुर्गा सप्तशती का लगातार पाठ कराते आ रहे थे। वे पूजा को निष्ठा नहीं, साधना समझते थे और इसी लिए कुरान की आयतों से लेकर बाइविल तक उनके लिए एक जैसी मान्यता रखती थी।

परिवार मध्यवर्ग का है—इसलिए उनका लक्ष्य सिर्फ सन्तोष जनक जीवन बिताना ही था। रेडियो और किताबें ही सबसे बड़ा साधन थीं। सोचते थे वे इस घोर वातावरण में रह कर भी अपना कर्त्तव्य पालते थे।

सोचते थे क्या हुआ अगर धन कमाना तो क्या दिव्या और विनोद को पढ़ाया भी तो है उन्हें काबिल भी नहीं बनाया। जरूर··· और यह भी तो संचित धन ही है।

किन्तु अब विश्वास ढह रहा था—आस्था की जड़ों में परिस्थिति ने आरा चलाना शुरू कर दिया था और एक दिव्या के ब्याह की बहुत बड़ी समस्या आ खड़ी हुई थी। उसी दिव्या की जो बहुत ही श्रद्धा से ईश्वर के सामने न थी। ईश्वर, यानी इष्ट देवता, एक ऐसा देवता जा न हिन्दू था और न मुसलमान न ईसाई और न पारसी। एक बहुत ही कलात्मक मूर्ति जो देखने में नर सरस्वती, भाव में ईसा और दयामय बुद्ध का अस्तित्व जान पड़ी थी।

पूजा की समाप्ति के बाद दिव्या के साथ-साथ वे पुनः रसोई लौटे। खाना खाकर, जाते वक्त जेब से पाँच का नोट निकाल कर देते हुए कहा—'लो दिव्या, देखती हो न ! मैं कैसे वादा निभाता हूँ।'

किन्तु बीच ही में विनोद ने आकर कहा—'चार रुपये तो मुझे चाहिए बाबू जी। प्रेक्टीकल की दो कापियाँ खरीदनी हैं, कम से कम तीन रुपये पन्द्रह आने की आयेंगी।'

"अच्छा !…"

'झूठ थोड़े ही बता रहा हूँ बाबू जी, सच मानिये। अगर कापी न खरीदी गई तो प्रैक्टिकल नहीं कर पाऊँगा। प्रैक्टिकल नहीं हुए तो डिवीजन गई।'

'जाने दो—' हरिनाथ ने उस पर एक अजीब सा दृष्टिपात किया। उसके रूखे हुए बालों को देखा बिस्तर से आये कपड़ों को देखा और कहा, 'डिवीजन दस बजे सोकर उठते हो और डिवीजन के सपने देखते हो।'

'रात को देर तक जो पढ़ता रहा बाबू।'

हरिनाथ ने घोषणा की, 'ठीक है, तुम पूजा में नहीं आये थे इसलिए अगले माह ही रुपये मिलेंगे। चार छः रोज ऐसे ही काट दो।

विनोद का मुँह लटका देख दिव्या ने पांच का नोट उसे थमाते हुए कहा—'लो एक रुपया तो दोगे न! हमारा काम उसी में चल जायेगा।'

हरिनाथ ने रोका,—'दिव्या!'

'कोई बात नहीं! सिलाई की तो क्लास है। देखा जायेगा?'

हरिनाथ ने चेतावनी दी—'कहीं ऐसा न हो कोई मुसीबत आये। ऐसा तो नहीं होगा!'

'नहीं' दिव्या ने सिर तो हिला दिया किन्तु महिला निकेतन की सदा सुहागिन मिस के सामने वह सिर न उठा पायी। व्यापारी मन, लिपा-पुता चेहरा और कटु व्यवहार ने चालीस साल की बूढ़ी मिस को इतना मुखरित कर दिया था कि वहचीख उठी। 'जब पैसा पास नहीं होता तो आप आती क्यों है।'

'इसलिए कि गैर हाजिर रहना आपको अच्छा नहीं लगता।'

इतना सीधा और इतना सरल वाक्य भी पाउडर की मुस्कान, लिपिस्टिक की शान और बनारसी साड़ी में लिपटा उजला शरीर और उसमें बसने वाली तथाकथित आत्मा न सह पाई। विरोध में चीत्कार करके बोली—'जाइये, निकलिये यहाँ से। और मत आइये जब तक कि पैसा न हो।'

'लेकिन...'

'मैं कुछ नहीं सुनूँगी, निकलो यहाँ से निकालो—'

यह थी एक सीमा, एक सीमित परिवर्तन की सुरक्षा पाँत, जहाँ शीलता जवाब देती है—खास तौर से दिव्या जैसी स्वाभिमानी लड़की—जो अपने सामने ही निस्तब्ध लड़कियों को देखकर होश खो बैठी और बिना सीढ़ियों तथा मोड़ गिने पाँच मंजिल से एक दम धरातल पर आगई।

पाँच

* * *

पर सही बात तो यह है कि बिवाई फटने से पूर्व बिवाई का दर्द कैसा होता है, बहुत कम लोग जानते हैं। धीरे-धीरे हरिनाथ को दिव्या का भार प्रतीत होने लगा और वे छाता लेकर निकलने लगे वर की तलाश में।

उस दिन गर्मी कुछ ज्यादा थी। आसमान अन्धेरी रात के काले कम्बल में से नक्षत्रों के साथ आँख मिचौनी खेल रहा था। काफी रात बीत गई थी। दिव्या सो चुकी थी, विनोद अपनी आदत के मुताबिक सिन्धी हलवाई से चाय पीने गया था। तब ही श्री ने हरिनाथ के पद चाप सुने। बहुत धीरे चल रहे थे हरिनाथ। ऐसा महसूस होता था जैसे सारा विषाद, दुःख उनके जिम्मे आया है। मुरझाया हुआ चेहरा और पीला मुँह। श्री का हाथ छूट गया था उनके हाथ से।

ओह, कैसा गर्म हाथ था। ऐसा लगता था, जैसे जलते तवे पर हाथ रखा हो उसने।

'आपको तो बुखार है।'

'हाँ है तो।'

'लेट जाइये।'

'और न लेटूँ तो ।'

'कैसी बात कहते हैं लेट भी जाइये । बहुत बुखार ह आपको ।'

'बेकार—' हरिनाथ ने कहा—'इतना बड़ा बुखार है, यह कि सारा समाज, सारी मर्यादा, सारा धर्म डूब जायेगा इसमें । समुद्र में ज्वार आता है तो लहरें अपना आगा पीछा नहीं छोड़तीं । तूफान आने पर पत्तियाँ अपना सिर नहीं उठातीं । जबकि जानती हैं कि मिट जायेंगी वे ।...'

श्री, साधारण मन की स्त्री थी । उसे ऐसे शब्द सुनने की न कभी इच्छा होती थी और न जिज्ञासा । इस तरह की बातें उसे परेशान ही करती थीं—यह तय है। अचानक उसके मुँह से निकल गया, दिव्या, जरा आ तो ।'

किन्तु दिव्या के आने से पूर्व हरिनाथ ने अपनी बात खत्म करली । बहुत ही क्लान्त, बहुत ही बेचैन ढंग से वे सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते कह रहे थे—'तो आज तूफान ने कलियों को झिंझोड़ दिया है श्री । हमको चाहिये पैसा—सोना, चाँदी, सोफा सेट ताकि अपनी दिव्या के लिए वर खरीद सकें। लोग यह समझते हैं श्री कि लड़कियाँ पानी पीने से पल जाती हैं—पानी । और वे जैसे उन्हें खून देकर पालते हैं । क्या नहीं किया हमने । पढ़ाया, लिखाया—कभी समझा कि विनोद और दिव्या दो हैं—मगर...'

खाँसी ने एक बड़े वेग से उन्हें आगे कुछ कहने से रोक दिया । इसी बीच दिव्या आचुकी थी । वे सब ऊपर पहुँचे । बिना किसी बिछावन की खाट पर वे धम से बैठ गये । श्री थाली में खाना लाई और दिव्या ने टूटी तीन टाँग वाली मेज खट से सरका दी, किन्तु परेशानियाँ इतनी बढ़ चुकी थीं—दिमाग इस तरह झनझना रहा था कि हरिनाथ खाने या बोलने की किसी स्थिति में न थे ।

वे एकदम चुप—एक दम मौन, टिमटिमाते हुए तारे को देख रहे

थे जिनकी प्रभा कभी कुछ उज्ज्वलता की ओर बढ़ती थी और कभी अंधकार में लुप्त हो जाती थी। मध्यम वर्ग की जिन्दगी ही ऐसी है। धूप और छाँ-छाँ और धूप। किन्तु ऐसी ही धूप में जिन्दगी परवान चढ़ती है, चोटी तक पहुँचती है। प्यार उपजता है, फूटता है, पनपता है और छाँव में उस प्यार के, राग की, ममता का श्रोत उबलता है।

हरिनाथ इसलिए दुःखी थे कि नौकरी होते हुए भी उन्हें दिव्या के लिए रिश्ता नहीं मिलता। ऐसा रिश्ता नहीं जिसमें बादल की धूप, का अट्टहास और चंचल लहरों की सुन्दरता हो। बल्कि एक ऐसा वर—सादा और सुशिक्षित वर जो दिव्या को प्रश्रय दे सके।

सुधीर के पेट में दर्द था इसीलिए कि वह बेकार था। कोई काम न हो तो दर्द भी अच्छा लगता है।

ऐशिया के हर देश में ऐसे शहर हैं। हर शहर में ऐसी वस्तियाँ हैं। गंदी और अनाउपादेय बस्तियाँ—जो शहर के सीने पर दाग होती हैं और समाज के कलेजे पर नासूर! जिनकी टेड़ी-मेड़ी गलियों में आते हुये सूरज डरता है। जिनका कालिमा-पूर्ण मुख को देख कर चुम्बन करती हुई धूप तिलमिला जाती है। जिसका सूरज ही नहीं हवा और पानी तक दुश्मन है। उसके बाद भी ये बस्तियाँ जीवित हैं। गाढ़ दीजिये, खत्म कर दीजिये उसके बाद निकल आयेंगी। उसके बाद समाज के अगुआ उन्हें जिन्दा रखते जायेंगे—इसलिये कि वे जिन्दा रखना चाहते हैं; मुर्दा घरों में जिन्दा इन्सान रहते हैं! सैकड़ों जिन्दा इन्सान और सैकड़ों से ज्यादा खूबसूरत, सलोनी दिव्या जवान होती हैं! पलती हैं और पलने के बाद माँ-बाप के लिये मुसीबत बन कर या तो उन्हें निलाप करती हैं और या कुएँ के पवित्र जल को सदा-सदा के लिए दाग लगा जाती हैं।

सवाल एक दिव्या का नहीं सैकड़ों दिव्या का है। कहानी एक सुधीर

की नहीं, सैकड़ों परेशान सुधीर की है। किन्तु—इसके बाद भी जिन्दगी का सबसे बड़ा सवाल अधूरा है। जिन्दगी का एक ऐसा सवाल—जिसे सुलझाने का प्रयास न केवल ऋषि मुनियों ने किया, न केवल छोटों-बड़ों ने किया। बल्कि आज भी वह सवाल हवा में गूँजता है आज भी दीवारें खिलखिला कर पूछती हैं—कब तक जिन्दगी रहेगी। कब तक इस तरह बेकार सुधीर पेट के दर्द से तड़पता रहेगा। कब तक हरिनाथ जैसा सुलझा हुआ इन्सान समाज के थपेड़ों को खाता रहेगा ?

सवाल अजीब है। किन्तु उस वक्त न यह सवाल मनोरमा के दिमाग में था और न दिव्या के। पत्तों की खड़ाखड़ाहट चुप थी, तारों की पँक्तों में एक अजीब सा उनींदापन था और सुधीर की आँखों में एक भयंकर सा पत्थर पड़ा, एक मूक सी टीस और हल्की सी पुकार थी।

छः

* * *

रामनाथ।

अचानक ही आ गये थे। सुधीर के जीवन में। उस सुधीर के जीवन में जो सुबह-से-शाम तक नौकरी खोजता घूमता था और अचानक राम-नाथ जा टकराया था। एक परीक्षा हो रही थी। सरकार बी० ए० पास पर, केवल द्वितीय श्रेणी के बी० ए० पास उमीदवारों को छाँटना चाहती थी। सुधीर बी० ए० पास हो कर भी इस परीक्षा के अयोग्य था। किसी तरह से इस परीक्षा में बैठ सके बस यही एक ध्येय था। और इसके लिये वह रामनाथ के सामने था।

खुशामद की पर्तों से स्वार्थ झाँक रहा था और वह कह रहा था, 'यकीन मानिये सर ! मेरी फस्ट क्लास ही आती। पर क्या बताऊँ, कमबख्त, टाईफाइड।···शायद आपको यकीन नहीं होता। आप पर्चे मेरे निकलवा कर देखिये उन पर उल्टी के दाग पायेंगे। अगर परीक्षक सहयोग नहीं करते तो शायद—'

'सहयोग, कैसा सहयोग !'

सुधीर ने आशा को संजो कर कहा—'सहयोग से मतलब यही है सर— वे मुझे दूध पीने की, दवाखाने की इजाजत दे दिया करते थे। इसीलिए, कि वे मेरी स्थिति समझते थे।'

'यह भी समझते होंगे कि तुम्हारी फस्ट क्लास आनी चाहिये !

'जी हाँ !'

रामनाथ मुस्कराये, ओंठों-ही-ओंठों में एक अफसराना मुस्कान उठी और बैठ गई। बोले, लेकिन तुम्हारी फस्ट क्लास नहीं आई। इसलिये कि वे सुविधा दे सकते, कानून थोड़े ही तोड़ सकते थे—है ना।'

'जी हाँ !'

रामनाथ कुछ कहें इससे पूर्व ही उनके व्यक्तिगत नौकर, अधेड़ नहीं बूढ़े पुरुषोत्तम ने टिफन के साथ प्रवेश किया फर्श साफ किया और फर्श पर बैठते हुये कहा—'लो और सुनो। छबि को पढ़ाना क्या शुरू किया—आसमान झाँकने लगीं। पच्चीस भरे थे तुमसे लेकर बीस और चाहियें। कहे देते हैं राम बाबू—हम छवि को काट कर गाड़ देंगे। यह कमर लचका कर चलना, रोज किताबें खरीदना हमको अच्छा नहीं लगता ! और तुम हो कि राह देते जाते हो···'

सुधीर इस तरह की वार्तालाप से गया नहीं। किन्तु पुरुषोत्तम आध घण्टे बाद टला, तब कहीं रामनाथ की आँखों सुधीर पर गई। आश्चर्य से पूछा—'गये नहीं ?'

'जी।'

रामनाथ ने स्पष्ट किया—'सुनिये मिस्टर। कानून तोड़ना मेरी बिसात नहीं। 'आप जा सकते हैं !'

'लेकिन सर—'

प्रत्युत्तर में एक छपा फार्म देते हुये रामनाथ ने कहा, 'मुझे अफसोस है, आइ एम सारी, लेकिन यह फार्म शायद आपकी कोई मदद कर सके। कहीं प्रशिक्षण हो तो भेज देना।'

'जी !'

स्वयं रामनाथ टिफिन लेकर दूसरे कमरे में चले गये और वह हताश लौट पड़ा।

लौटने के अतिरिक्त और चारा भी क्या था ?

सुधीर कोलाहल पूर्ण वातावरण में सूरज की धूप सेंकता पजामें को चढ़ाये साइकिल चलाता घूम रहा था कि किसी ने आवाज दी, 'अरे होश खो बैठे हो क्या, देखकर नहीं चला जाता ?'

'क्या हुआ है ?' वह मुड़ा, सामने वही बूढ़ा खड़ा था जो रामनाथ का खाना लेकर आया था। उसे देखते ही घृणा की एक ऐसी फुरहरी आई, ऐसी सिहरन-सी उठी कि आँखें एकदम रक्तिम हो गईं।

देखा उसकी आँखें अजीब सी चमक लिये थीं। उन्हीं आँखों के आगे झुर्रीदार चेहरा शुरू होता था और धर्म प्राण आत्मा। घृणा से नाक सिकोड़ कर पूछा—'क्या चोट लगी है।'

'नाहीं—हमहू का चोट लगनी है। चोट तो तुम्हार लगती बबुआ। ले सम्हार अपना पिन ! राह में छोड़ जात और फिर हाथ मलत—

एक बार उसके दिमाग में आया कि कह दे उसका पैन यह नहीं है। कोई और होगा जो पैन डालकर चला गया है। वह इतना लापरवाह थोड़े ही है। किन्तु तभी उसकी आँख में एक पैन घूमा। एक सुन्दर पैन—एक आवश्यक पैन और साढ़े चार रुपये। चार रुपये और आठ आने—चार रुपये और बत्तीस पैसे—छियानवें पाइयाँ। जिनसे नौ सेर आटा खरीदा जा सकता है ; तीन गज कपड़ा आ सकता है। सस्ता, काम चलाऊ कपड़ा और······।

एक झपाटे के साथ उसने पैन लेकर धन्यवाद देना चाहा तो बूढ़ा बोला—'रहन दे, अरे···अब कहा करत है झक-झक···' सुधीर चाहता भी यही था। हल्की सी सिहरन उसके नाक में समाई ओह दिमाग ने कहा—'इन्सान बुरा नहीं है······।' किन्तु तभी आँखो में एक अजीब

सी तस्वीर घूमी ! और वह सहानुभूति की लहर अकाचक लोप हो गई।

द्वार पर ही दिव्या खड़ी थी—बिल्कुल सजीव, भाव भरी और भावपूर्ण। कैरियर पकड़ कर बोली—'ऐं।'

'क्यों ! चोट लगी है, क्या !'

'वह तो कब की लग चुकी है।' कह कर दिव्या हँसना चाहती थी कि हँसते-हँसते रुक गई। सुधीर के चेहरे पर उसने एक अजीब सी तलखाहट देखी—और उसी तलखाहट से वह चुप रही, किन्तु पीछा नहीं छोड़ा। उसके पीछे-पीछे जाकर बोली—'सुनो, किसी से झगड़ा कर के आये हो !'

'नहीं !'

'मगर...' कहते-कहते रुकी तो सुधीर ने वाक्य पूरा किया—'सूरत ही ऐसी है। मगर आज तुमको क्या हुआ है जो बाँस के ऊपर नाच रही हो !'

'बाँस के ऊपर नहीं जनाब सुनोगे तो आसमान पर चढ़ जाओगे।'

'मीठी है।'

'मिल जायेगी।'

'पर हुआ क्या ?' दिव्या ने एक क्षण चुप रहकर कहा, 'सुनो। बाबू जी ने फैसला कर लिया है कि वे अब शादी की बात नहीं करेंगे। क्यों ठीक है ना। सुनकर सुधीर को हँसी सी आ गई पर क्षणिक ही सी। शादी ब्याह का सिलसिला उसे कुछ अजीब सा लगता था। इसलिए नहीं कि उसमें सैक्स नहीं था। बल्कि इसलिए कि उसके सैक्स पर परिस्थितियों ने एक ऐसा लेप सा कर दिया था कि अब उसे सैक्स नहीं रोटी चाहिए थी। और यह रोटी की समस्या इतनी जटिल हो गई थी कि उसे न हाँ करते हुए बनता था और न। इसी ऊट-पटाँग खींच-

तान के बीच आज तक न उसे अपने अस्तित्व का आभास हुआ था और न दिव्या का ! कुछ देर तक उसी तरह अस्थिर रहने के बाद उसने बातचीत चालू करते हुए कहा—'तो यह बात है, आज से दिव्या विना नाम की······।'

'छेड़ा हुई ! बाबू जी कहते हैं कि उनके दो लड़के हैं—लड़की कोई नहीं। और बात भी सही है।'

'बेशक—चाहे तुम्हारी हो या बूढ़े लोगों की। क्या जमाना आ गया है। एक युग था कि लड़कियाँ शादी की बात मुँह पर भी नहीं लाती थी और अब छीं छीं······'

दिव्या ने अपना आँचल आगे बढ़ाकर कहा—'लो थूक दो, 'इस में।'

'अरे हटाओ गंदा हो जायेगा। और सुनाओ दिव्या देव शास्त्री—तुम्हारे नारी लोक का क्या हाल है ? सेवा, निष्ठा, तप आदि तो ठीक है न !'

'बेशक—' चौंक कर दिव्या ने कहा—'तो आपका कोई स्वार्थ है। बोलिये···' प्रत्युत्तर में अधीर ने अपनी फटी पेन्ट देकर कहा—'आदेश उपस्थित है।'

'धन्यवाद !'

'तो प्रार्थी कब उपस्थित हो ?'

दिव्या हँसी—'वाह लाला जी, कभी मुँह देखा है आपने। जान लो नारी लोक का प्रार्थी होना कम बड़ा, काम नहीं होता ?'

'मगर नौकरी के प्रार्थी से छोटा रहता होगा, रानी जी। दुनिया की हर चीज मिल सकती है, सिवाय नौकरी के।'

'अच्छा !'

'ओह नहीं तो क्या ? आखिर तुमने समझा क्या है नौकरी को। जो पटाक से हमें मिल जायेगी। गाय भैंस समझा है क्या ?'

'नहीं' दिव्या ने उत्तर दिया—'नौकरी ठहरी स्त्री लिंग और पुरुष नौकरी किया करते हैं—औरतों से शादी रचाया करते हैं। इसलिए दिक्कत की क्या जरूरत। परेशान होने से फायदा क्या ?'

और दिव्या की बात निकली भी सच। सच ही नहीं एक दम सच। अगली दोपहर थी। वह चटाई पर बैठी थी और सुधीर लेटा कोई किताब पढ़ रहा था कि डाकिये ने पुकारा—सुधीरचन्द्र हैं।'

'हाँ—' दिव्या को जाते-जाते रोक कर सुधीर ने कहा—'मना कर दो दिव्या। लगता है कोई बैरंग चिट्ठी आई है।'

'कौन जाने कि बैरंग चिट्ठी आई है या तुम्हारा दिमाग बैरंग हो चला है। मैं तो जाते-जाते तुलसी मैया के पौधे से कहूँगी कि प्रभु लाज रखना।'

'लाज।'

जाते-जाते दिव्या बोली—'हाँ हाँ लाज। चौंको मत ! कोई बुरी बात थोड़े ही कह रही हूँ। तुमने कहा है बैरंग होगी और मैं कहती हूँ रजिस्ट्री। अब क्या तुम्हारे लिये कोई सफलता भी न सोचे। अच्छा, देखो मैं कुछ नहीं कहती हूँ लेकिन जीत गई तो शर्त है।

'काहे की।'

'सो आकर बताऊँगी।' कहकर वह नीचे गई। आई रजिस्ट्री ही थी, सुधीर नीचे आया। दस्तखत करके पत्र खोला और पढ़कर बोला—लो दिव्या, तुम जीत गईं। मुझे परीक्षा के लिए बुलाया है ऋषिकेश पशु चिकित्सक बनूँगा मैं। और परीक्षा में पास होना तो चुटकियों का खेल है।'

'सच।'

'हाँ मगर इनाम। जरा यहीं ठहरो तो—' कहकर वह भीतर गया और टीचर ट्रेनिंग फार्म उसके हाथ में रखकर बोला—'तुम्हारे लिये ही तो लाया था दिव्या। मेरा ख्याल है समाज से जूझने के लिए कम से कम आर्थिक नाकेबन्दी होनी ही चाहिए। तुम चाहती हो कि, मगर न बनो तो यह जरूरी हो जाता है कि कम से कम नाकेबन्दी तो रहे।'

'मास्टरनी बनाओगे मुझे!'

'हर्ज क्या है। यह तो अच्छी बात है दिव्या। भूल न जाना—और न ही मेरी बात का बुरा मनाना!'

न जाने दिव्या के मन में क्या भाव उठे। कैसी उथलपुथल मची, कि उसने पहले उस फार्म को माथे से लगाया और फिर पाँव छूकर अजीब तेजी से वहाँ से हट गई!

सात

* * *

एक और संयोग हुआ।

हरिनाथ और रामनाथ दोनों ही का साक्षातकार हुआ श्रममंत्रालय में। एक थे पैदल चलने वाले, आत्मनिष्ट और संयमी तथा दूसरे थे रामनाथ—मोटर के चलने वाले, एकदम अरिस्टोक्रेट। अजीब, नजाकत के पुतले और उस मशीन का एक पुरजा—जिसे नौकर शाह कहा जाता था।

सोचता था हरिनाथ उसकी प्रतीक्षा करेगा—इसलिये कि कुछ भी है—है तो उससे निम्न कर्मचारी। भले ही उससे सम्बन्धित न हो। हरिनाथ बाहर था और वह भीतर। अन्दर सेक्रेट्री से बेकार की बेतुकी बातों में सलंग्न। पाँच बजे, साढ़े पाँच बजे और हरिनाथ अपना छाता उठा कर घर की ओर चल दिया। उन्हें दुख था तो सिर्फ इस बात का कि आज वे इतनी देर रुक कैसे गये। उनका दर्प, वह आत्मभिमान चूर कैसे हो गया ?

घर आये तो विनोद की आंखें आसमान पर हैं। पतंग उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। दिव्या भी ऊपर थी। पड़ौस की कोठरी में सुधीर परीक्षा की तैयारी कर रहा था। वे घर पर आये और चुपचाप पूजाघर में चले गये। आस्था ही थी—गांधी जी की भाँति मौनव्रत पर इन्हें विश्वास था।

आसमान पर शाम के साये फैल रहे थे। सायों के ऊपर औं कुछ पतंगे' अनायास एक पतंग कटी—और कटने के बाद उसी छत से गुज़री। दिनेश पकड़ना चाहता था, दिव्या खींचना चाहती थी किन्तु पतंग थी कि सबको खिजाती, मुँह चिढ़ाती नीचे की ओर झुकी। डोर दिव्या के हाथ में और पतंग नीचे।

उसको खींचना चाहा तो आभास हुआ कि किसी ने उसे पकड़ा हुआ है। झाँक कर देखा तो रामनाथ थे। क्रोध से उबलती हुई दिव्या पाँव पटकती हुई नीचे आई और आश्चर्य से बोली—पतंग हमारीं है!'

रामनाथ ने दोनों हाथ जोड़ कर कहा—'नमस्कार!'

'नमस्कार, मगर पतंग हमारी है!'

'नहीं; रामनाथ ने उसे उठाते हुये कहा—'है तो हमारी ही। पतंग कट-कर आई है ना!'

कोई भी इतना उदण्ड होगा दूसरा उसे आभास तक न था। एक-दम तिलमिला कर पतंग छोड़ कर ऊपर चढ़ने लगी तो रामनाथ ने पुकारा—'सुनिये, यहाँ हरिनाथ रहते है ना!'

दिव्या के चुप रहने पर उसने और नम्र होकर कहा—'बहुत जरूरी काम है, क्या मैं मिल पाऊँगा उनसे?'

'हाँ' उपेक्षा की दृष्टि उस पर फेंक कर दिव्या ऊपर आ गई और दो क्षण बाद हरिनाथ ने उपस्थित होकर कहा—'नमस्कार!'

रामनाथ ने दोनों हाथ जोड़े। बड़ी नम्रता से बताया कि उसे बड़ा खेद है और अगर वे उसे एक घण्टे का अवकाश देदें तो काम समाप्त हो जाये।

'ठीक है—पन्द्रह मिनट आपको प्रतीक्षा करनी होगी।'कह कर बिना उत्तर पाये'हरिनाथ भीतर चले गये और दो क्षण बाद ही एक मढ़ा

लेकर विनोद उपस्थित हुआ और अँग्रेजी में बोला—बैठिये।'

'धन्यवाद!'

उसने बड़े ही अंदाज से कहा—'इट्स आल राइट! पानी या चाय लीजियेगा!'

'नहीं—' रामनाथ ने जानकारी की, 'आपका शुभ नाम जान सकता हूँ।'

जरूर, मैं हूँ विनोद. पोलिटैक्निक का दूसरा साल है। अब तो आप चाय पीजियेगा न?'

तभी दिव्या ने आकर विनोद को संकेत से बुलाया और भीतर चली गई। कुछ अजीब से भाव रामनाथ के मन में उठे और बैठ गये।

चाय आई। केवल उसने पी और पीलेने के बाद हरिनाथ के साथ उस बस्ती से गुजरा जहाँ आने से पहले उसके रोंगटे खड़े हो गये थे। बहुत ही ग्लानि और बहुत ही जघन्य। नाक दबाकर आया और मोटर के अन्दर उन्हें बिठाता हुये बोला—'आपको तकलीफ तो जरूर हुई होगी, मगर क्या करता काम ही ऐसा था।'

'जी—'

रामनाथ हतप्रभ हो गया। इतना कठोर, इतना संयमी आदमी पहली बार उसने देखा था। आज तक रहा था चापलूसों के बीच। अगर उसने हाथ उठाया तो सिर झुक गये। उसने एक बुलाया था दस आये।

दफ्तर में रजिस्टर पलट रहा था कि उसकी आँखें सामने वाले कैलण्डर के चित्र पर जा टिकीं। उतरती हुई शाम, अच्छा वातावरण और खिलखिलाते हुए बच्चों का एक बड़ा सा दल अपने माँ-बाप को घेरे हुये! बहुत चाहा कि आँखें हटें, किन्तु वे तो और चुभती गई—चित्र पहले से भी अधिक गहरा होता गया। यादें और भी ताजा होती

गईं । चेहरे के सामने अब चित्र नहीं, अब थे समीर, किरण और बेला ! तीन मातृ हीन बालक और धुंधली शाम !

कुछ देर अनभन्स्क रहने के बाद उसने तजवीज की, 'अगर गरमी हो तो घर चलें ।'

'—नहीं ठीक है ।'

पाँच मिनट बाद ही उसने फायल समेट कर कहा—'आइये, वहीं देखेंगे । बहुत डर नहीं है ।' हतप्रभ हरिमा उसके साथ-साथ चल दिये । घर आ गया घर नहीं अच्छा खासा फ्लेट था । सामने की ओर बाग । हरी घास के और मुकहिषम के बड़े पेड़ों के साथ-साथ गुलाब की झाड़ियाँ ।

घर आये तो रामनाथ बच्चों के हो रहे । समीर को गोदी का दुलार दिया—किरण के साथ खेल-कूद की और फिर रजिस्टर लेकर गप्पे करने बैठ गये । गप्पें कब तक होतीं, समय कब तक टिकता, हरिनाथ कब तक प्रतीक्षा करते, तिलमिला कर कह ही उठे—देखिये । मैं हूँ बड़ा छोटा आदमी । बिल्कुल छोटा—और मेरे पास काम बहुत करने हैं !'

काम···ओह ! जरूर आपको गाड़ी की जरूरत रहेगी । ले जाइयेगा—कल कर लेंगे यह सब ! कहाँ तक जाना होगा—आपको ।'

'कहाँ तक' हरिनाथ ने अनुमान लगाया, 'जाना तो दूर है । मगर गाड़ी—नहीं-नहीं मैं किसी को धोखा देना नहीं चाहता । मैं कभी किसी को धोखा नहीं दूँगा । चाहे मेरी बेटी क्वाँरी है । चाहे मेरी दिव्या जन्म भर घर रहे ।'

'ओह, 'तो क्या वह आपकी लड़की थीं । जरूर रही होंगी । क्या शादी-व्याह की बात है क्या (देखने-दिखाने में तो लड़की बुरी नहीं है।

बाजार में कोई चीज उठाइये दुकानदार प्रशंसा के पुल बाँध देता

है। उलट-पुलट कर, झाड़-पोंछ कर बहुत मुलायम भाषा में उसकी तारीफ़ शाम तक करते रहेगा। जबकि वह वस्तु निर्जीव है—न उसके श्वाँस से बनी है और न खून पीकर बड़ी हुई है। हरिनाथ भी तो एक दुकानदार था, एक ऐसा दुकानदार जो अपनी बेटी को फिर जीवन सुख के लिये बेच डालना चाहता था। एकदम उछल कर बोला—'अजी आपने देखी ही कहाँ है। मगर भाग्य की बात है। लाइये काम निबटा लें तो कल निश्चित होकर जायेंगे।'

बच्चों का साथ छोड कर रामनाथ को फाइलों से सिर खपाना पड़ा और वे भाव जो दिव्या को देख कर पैदा हुये थे—धीरे-धीरे मिटते गये। या हरिनाथ के गंभीर चेहरे को देख कर मिट गये।

तीन दिन बाद। जब रात को वे मैटनी शो देखकर लौट रहे थे तो अनायास विद्युत लैम्प के नीचे खड़े हरिनाथ पर दृष्टि जा टिकी। अवसाद की भयंकर छाया उन पर छितरा रही थी और वे शून्य की ओर ताक रहे थे। विचारों में इतने खोये हुये कि न कार की आवाज सुन सके और न रामनाथ की वाणी। जब रामनाथ ने नमस्कार किया तो झिझके, बोले, 'आप! जाइये, मैं बस से आऊँगा।'

'कार भी तो बस ही है। बैठ जाइये—समझ लीजियेगा कि बस में बैठ रहे हैं, आइये ना।' कह कर रामनाथ ने भीतर बैठाया और कार स्टार्ट करते हुए पूछा—लड़का तय हो गया क्या ?

नहीं।'

'नहीं—आश्चर्य है ? मगर क्यों!'

बचपन की सी भोली हँसी हँसकर हरिनाथ ने कहा—'वाह कमाल है आप अचम्भा करते हैं! लड़का तय नहीं हुआ इसलिए कि हम इमानदार हैं। और इमानदार आदमी दहेज नहीं दे सकते। ब्लैक मार्कीट में कमाई पूँजी बैंक में नहीं है कि चैंक काट दूँ। बताओ ऐसी हालत में भी तय हो सकता है क्या ?

'हूँ···मुशकिल तो नहीं ? मगर आप की पसंद तो मालूम हो। जाय आप कैसा वर चाहेंगे। रँग गोरा रहे, उम्र बीस से इक्कीस न हो। घर पर जमीन हो, जायदाद हो। कम्पनी के शेयर हों, बैंक में बैलेन्स हो। यह सब ही तो देखना होगा।'

'हाँ—देखना था। पर अब नहीं। अब मुझे शहनाई चाहिये, हल्की चाहिये और यह सब जल्दी जल्दी चाहिये। गोरा हो या काला, बूढ़ा हो या जवान—पर हो इन्सान। शैतान नहीं जो पैदा होने से अब तक का किराया वसूल ले।···' कुछ देर बाद रामनाथ को चुपजानने स्वयं बड़-बड़ाते हुये—'बहुत जमाना बीता, तब लड़कियाँ बेची जाती थीं, अब भी कहीं शायद बेची जाती हों। तब हम इतिहास को कोसते थे—लड़की बेचने वालों को पापी और कुल हीन कहते थे। आज जो अपने बेटे बेचते हैं, नीलामी उठवाते हैं—उन्हें क्या कहा जायेगा। क्या कह-कर इतिहास लिखेगा। बातों-बातों में इसी बीच उन्होंने देखा कि वह गन्दी गली आ गई है। धुएँ से घर भर गये हैं और रामनाथ ने मोटर रोक दी।

वे उतरे, हाथ जोड़ कर अभिवादन किया तो रामनाथ ने सचेत स्वर में कहा—'सुनो पंडित। मेरे तीन बच्चे हैं, उम्र है अड़तीस और पैंतीस के बीच। अगर चाहो तो मेरे बारे में सोच लेना। दिव्या मेरे पास सुख से रह सकेगी। मगर बुरा नहीं मानना।'

कोई प्रतिक्रिया हरिनाथ करें—इस से पूर्व वह गाड़ी स्टार्ट करके चला गया।'

आठ

* * *

बहुत ही काली रात। जोरदार थपेड़े और अन्धकार पूर्ण वाता-वरण। तीसरी मंजिल चारपाई पर लेटे हरिनाथ आसमान को देख रहे थे—तारों भरा आसमान —धूल से अटा आसमान और आसमान पर निस्तब्ध खोई रात के पंखों से झड़ता हुआ अन्धकार।

धुँधली लालटैन थी और निर्बल देखने की शक्ति। फिर भी आँखों में एक साथ सैकड़ों चित्र घूमे। दिव्या के चित्र तलाश किये गये वरों के चित्र। फैशनेबल और धन परस्त वे वर—जो मोटर माँगते हैं। उनके मां बाप सिर्फ नाक रखने के लिए सोने के जेवर चाँदी के सैट और फर्नीचर के अम्बार चाहते थे। जिनके भाई उन्हें इग्लैंड भेजने की सिफारिश और जिनके घर की औरतें बर्तन माँजते हुए यह तक बता देती हैं कि इस उम्मीद से कि दहेज में टी सैट आयेंगे, जभी जल-पात्र और परातें आयेंगी इसलिए उन्होंने खरीदना ही छोड़ दिया है।

चित्र में उन बेईमान, बे उसूल और बदनाम ब्लेकों कोठियों के जिन्होंने सैकड़ों जेबें काटीं, हजारों जेबों का खून निचोड़ा और धर्मात्मा बन गए। धर्म निष्ट और धर्मावतार बन गए। अब वे व्यंग कर सकते हैं, लज्जित कर सकते हैं और याद दिला सकते हैं—लड़की की उम्र, पराये धन की परिभाषा और परलोक के ताप जो उन्हें भी लगेंगे। झीं-झीं करते उनकी जबान नहीं थमती, कुलबुलाते

हुए उन्हें लकवा नहीं मारता क्यों कि वे ईमानदार हैं ! क्यों कि उन्होंने अपनी लड़कियों को पुत्रीपाठशाला से आगे बढ़ा कर यह नहीं सिखाया कि वे भी इन्सान हैं। उन्हें अपने आपको समझने का अधिकार है उन्हें अधिकार है बाप की ज्यायदाद से हिस्सा करवाने का, अधिकार है दुख को दुख कहने का। साहित्य और अदब की बात करने का। कला और संगीत पर सोचने का। किन्तु जब उन्हें खेलना चाहिए था, तब पढ़ीं। जब पढ़ना चाहिए था तो ब्याही गईं। हृदय में उत्कंठा नहीं और वासना से मुकावला, कोई उमंग नहीं। कोई उत्साह नहीं। सास कहतो है कि उसे पोता चाहिए। माँ कहती है कि उसे नाती चाहिए। पति को रात चाहिए, और उसे···सोचने का सवाल ही नहीं उठता। समझाने की बात ही नहीं खड़ी होगी। फिर भी उनके मा बाप व्यंग करते थे, उनके पति और सास व्यंग करती थी।

और अन्तिम चित्र था रामनाथ का। पैंतीस से अड़तीस उम्र—और तीन बच्चे। किन्तु कितना खुलाव, कितनी निर्भीकता। कहाँ ये गन्दी गलियाँ और कहाँ वे सुन्दर फ्लेट। खचड़ा ही सही गाड़ी तो है। बस से तो अच्छी है। और कितने फूल हैं कोठी में दिव्या को तो फूल ही पसन्द हैं। चम्पा के फूल, गुलाब के गजरे और रात की रानी की धीमी महक।

सहसा बिजली कड़की। इस आकाश में अंधेरा हुआ और बहुत से चित्र सजीव हो उठे। अजीब-अजीब से चित्र। जोर से चीख पड़े—'नहीं, नहीं, नहीं।' लेटी हुई श्री जाग कर बोली—'क्यो, क्या हुआ ? सपना देखा था क्या ?

'हाँ, सपना ही तो था ?'

श्री ने पूछा—'कैसा था, क्या था। ठीक से बताओ मेरा दिल डर रहा है।

'भयानक था, वीभत्स था हैवानी सपना। परेशान कर डालने वाले

चित्र। जानती हो सपने में मैं कौन था—मैं था एक राक्षस। आदम खोर और मैंने दिव्या को बेच डाला।'

श्री ने आश्चर्य प्रकट किया—'बेच डाला।'

'हाँ। पूरी परेशानियों के बदले बेच डाला। पूरी बेकारियों के बदले बेच डाला। बेच डाला—एक दम बेच डाला। क्या यह हो सकता है, श्री?'

'क्या कर रहे हो?'

'अपना सिर और क्या? अपनी बेवसी अपनी लाचारी। दिव्या की शादी होनी ही चाहिए न। कन्या तो पराया धन है उसे सौंपना ही होगा, दिव्या को सौंपना होगा। दिव्या······न, कतई नहीं···' जाने कैसे-कैसे भाव उनके दिमाग में आ रहे थे। वे उठे। परेशानी में पूरी छत का चक्कर काट कर फिर लेट गये। फिर उठे। वही क्रम, वह रात।

कुछ देर बाद श्री ने देखा जाने कहीं से गुलाब का फूल आ गया था और हरिनाथ ने कुचल दिया था उसे। पर चैन अभी नहीं था। रात उसी तरह जवान थी। दिमाग उसी तरह बोझिल और हरिनाथ करवटें बदल रहे थे।

नींद ही में बड़बड़ा रहा था।

ऐसा लगता था जैसे किसी ने आकर गला दबा दिया हो।

तो···झोंकना ही होगा इस भाव में। यही लिखा है इस लड़की के भाग्य में।

करीब दो तीन घण्टे इस घटना को बीत गये थे—किन्तु रामनाथ का झक्की चेहरा बूढ़ा पुरुषोत्तम और परेशानियाँ उसी तरह स्थिर थीं उसी तरह कायम।

टाँगों का मीठा दर्द अब तीखा हो चला था। गिरजाघर के घंटे ने

बारह के बाद का अद्धा बजाया किन्तु नींद कहाँ जो आती। आँखों में तो अखबार के कालम थे जिनमें कि झूँठे सच्चे विज्ञापन रहते थे।

यकायक एक तारा टूटता दिखाई पड़ा। किन्तु यकीन नहीं आया कि स्वप्न है या जागृति।

क्योंकि आँखें झपक चुकी थीं और मन अचानक सपनों के जाल में खो चुका था।

अवैतनिक चौकीदार चौंक-चौंक कर किसी बिल्ली या चूहे का शिकार कर रहे थे। जब हताश होकर लौटते थे तो आवाज में ऐसा ही दर्द होता था जैसे बेसुरा राग अलापने वाला कलाकार अपनी असफलता पर रोना शुरू कर देता है।

भोड़ हो गई।

किन्तु बस्ती में भोर से पहले जाग होती है। मुर्गे से पहले फैक्टरी का भोंपू चिघाड़ता है और उसके बाद इधर-उधर लेटे बूढ़े! जागकर भैरवी नहीं गाते, आवाज लगाते थे—'उठो, कमबख्तो! मिस्त्री जालिम है। छटनी हो जायेगी, भूखे मर जाओगे। उठो।'

जाग के साथ-साथ ही चक्कियों की आवाज झाँझ के स्वर में मुखरित हो उठती थी और फैक्टरी की विशालकाय चिमनी काला-काला धुँआ उगलना शुरू कर देती थी। जो दिन रात इस बस्ती पर मंडराने के बाद छतों पर डेरा जमाने लगता है। इसी धुएँ की काली राख को बुहारते हुए दिव्या गा रही थी। 'मीत की वेला, प्रीत का संवाद लाती है।'

भयानक स्वप्न, टाँगों का दर्द, आँखों की अकड़—सिर्फ गीत की एक पंक्ति से भाग गई—और लगा जैसे वह सुबह आ गई हो। जिससे चमकने वाले सूरज की हर किरण, हर लाल रोशनी जिन्दगी के

एक ऐसे क्षरण की गवाही होती है जहाँ इन्सान स्वयं अपना विधाता आप बनता है।

किन्तु ऐसी वेला बहुत दूर थी। एक पंक्ति वही दिव्या कह पाई थी कि नीचे से किसी ने पुकारा और हरिनाथ ने अपने निश्चय पर पुनः गौर करना शुरू किया। जैसे-जैसे वे गौर करते जाते थे, उनका सिर शर्म से झुक सा जाता था और अन्त में वे एक दम निढाल हो गये। आज न उन्होंने तौलिये के लिए आवाज लगाई न पगड़ी के लिए। चुपचाप वे नल से झरते हुए पानी की तरफ देखते रहे और फिर तेजी से अपना सिर उस नलके के नीचे डाल दिया।

नौ

* * *

विदा वेला। आज ही सुधीर विदा होगा ऋषिकेश के लिए और ट्रेनिंग लेकर लौटेगा। दिव्या और मनोरमा दोनों ने मिलकर पथ्य तैयार किया है इसी को लेकर जायेगा सुधीर। दिव्या तो सामने नहीं आई पर मनोरमा जरूर सामने पड़ गई। सुधीर सूटकेस उठाये एकदम उसके निकट जाकर बोला, 'अच्छा जीजी······!'

'सुधीर।'

सुधीर चौंक गया, बोला, 'क्या हुआ, माधुरी जीजी।'

'अपशुगन।'

'कैसा अपशुगन मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया।'

'आयेगा—' माधुरी ने अपना चेहरा आगे करते हुये कहा, 'देख मेरी तरफ, देख मेरा चेहरा। विधवा अभागिन। किसने कहा था कि जाने से पहले यह सब कारस्तानी करने को। मेरे अभाग्य से पेट नहीं भरा।'

'यह सब···जीजी······'

सुधीर आगे नहीं बोल पाया, माधुरी ही कहती गई, 'सच कहो सुधीर, इस माँस के लोथड़े में इतना प्यार कैसे हो गया। कैसे सब सह लेते हो तुम ?' माधुरी का मन जैसे उबाल खा रहा था। उसका रोम-रोम अपने आपको कोस रहा था। क्या इसीलिए, माँ दुख देने ही आई

थी वह। मर भी नहीं जाती। क्षण भर चुप रहने के बाद वह फिर बोली—'अब मेरी सूरत मत देख। अटैची रख दे, मुँह जुठार कर ही जाना होगा।'

'क्यों।'

'इसलिए कि मैं कहती हूँ, विधवा की सूरत देखकर जायेगा, तो तेरा भी काम नहीं बनेगा।'

'कैसे नहीं बनेगा, यही देखना है मुझे। अच्छा जीजी···'

'पर सुधीर, ऐसे मत जा।'

'मुझे रोको मत जी जी, जाने दो। जाने दो···'

'सुधीर।'

'अब मत रोको जीजी, अब नहीं रुकूँगा।'

सुधीर रुका नहीं। रोकने पर भी नहीं रुका। अपशुगन में ही चला गया। माधुरी ने क्रोध में अपने ओठ दबा लिये। उधर दिव्या खड़ी थी प्रतीक्षा में। सोचती थी, मिलकर जायेगा सुधीर। सूरज पश्चिम से निकल सकता है, पर सुधीर उससे बिदा लेने आयेगा, तो आज उससे वह अपने मन का हाल कह देगी। एक बात नहीं छिपायेगी। उसे वह सपना, वे कल्पनाएँ सब कुछ बतला देगी। आखिर उससे क्यों छिपाये। वही तो है उसके सपनों का चितेश, उसके भविष्य का प्रभात प्रसून, उसकी आशाओं की बगिया का माली—उसका होने वाला पति। अनजाने में ही फैसला नहीं कर लिया है, खूब सोचा है, समझा है और इसके बाद इस नतीजे पर आई है कि वह ऐसा ही करेगी।

पति से क्या दुराव क्या छिपाव कल्पनाओं में डूबी दिव्या खड़ी रही पर उसका चितेश नहीं आया। समय बीता, मिनटें जब घण्टे में बदलने लगी तो उसे होश आया। क्रोध से नथूने फूल गये उसके। सुधीर ने उसकी

उपेक्षा की। क्या समझा है उसने अपने आपको। क्या यही सब कुछ उसके भाग्य में है ? सोचते-सोचते उसका दिमाग परेशान सा हो गया, वह अभी तक सुधीर को अपने दिमाग से हटा भी न पाई थी कि श्री की आवाज आई, 'दिव्या......'

'हाँ माँ।'

'यहाँ तो आ।'

'लो आ गई।'

'बैठ जा।'

'बैठ तो गई, पर आखिर बात क्या है।'

'क्या ?'

'तुमने मुझे पुकारा न ?'

'हाँ, पुकारा तो—' माँ ने कहा, 'क्या रोज मैं तुझे नहीं पुकारती।'

'पुकारती तो हो।'

'फिर।'

'पुकार कर बैठने के लिए नहीं कहतीं।'

'हाँ—' माँ ने अनुमान लगाकर कहा, 'ठीक कहती है तू, मगर दिव्या बात ही कुछ ऐसी है। तेरे बाबू जी ने कहा है तू लड़का देखेगी।'

'ना।'

'शरमा मत। तेरे बाबू जी ने कहा है कि दिव्या चाहे तो शादी से पहले लड़का दिखला दिया जायेगा। बोल...'

दिव्या चुप रही तो माँ ने पुनः कहा, 'बोल न दिव्या—'

'क्या बोलूँ माँ।'

'लड़का देखेगी ?'

'नहीं।'

'तो फिर पक्की कर दें।'

'क्या ?'

'तेरी शादी।'

'मेरी शादी माँ······'

'हाँ।'

'पर किससे ?'

'वही तो दिखलाना चाहती थी खूब कमाऊँ है।'

'सच माँ।'

'हाँ और······' दिव्या ने नहीं सुना। वह लजा कर एक ओर हट गई। माँ ने समझा दिव्या ने स्वीकार कर लिया है, वह प्रसन्न हैं। पर शाम को जब माँ रसोई कर रही थी तो दिव्या ने कहा—'सुनो माँ······'

'हाँ।'

'बाबू जी से कह देना वे मेरी चिन्ता छोड़ दें। मैं······'

'क्या—' पीछे से हरिनाथ ने आकर झुँझलाये हुए स्वर में कहा—'चिन्ता छोड़ दूँ तेरी। तेरी चिन्ता है ही कहाँ। चिन्ता ता तुझे मेरी करनी चाहिए। बड़ी हो गई है तो लोग मुझे कुछ कहेंगे ही।'

'क्या कहेंगे।'

'यही······'

हरिनाथ अचकचा गये। सब लोग कहेंगे क्या। इससे पहले कि वे कुछ कहें, दिव्या बोल उठी—'बाबू जी, वे लोग क्या हमें खाना देते हैं ?'

'बेटी, इस दुनियाँ में खाना तो ही सब कुछ नहीं है। आदमी खाने से पहले रहने की भी व्यवस्था करता है।'

'पर हम तो किराया देते हैं, बाबू जी ।'

अब श्री बीच में बोली, 'इसका तो है दिमाग खराब। तुमने ही सर चढ़ाया है, इसे ; वरना क्या कोई लड़की से भी पूछता है कि शादी करनी चाहिए या नहीं । आप अपना काम करो, शादी यह करेगी···'

'और वर ?'

'कोई जरूरत नहीं । जिन्दगी भर देखेगी । कहीं ऐसा हुआ भी है कि लड़कियाँ लड़का देखें ।'

'तो यह हुआ है कि लड़का, लड़की देखे उसे परखे, और फिर तड़ाक से इन्कार कर दे क्यों ?'

'दिव्या···'

'क्या माँ ।'

माँ, यानी कि श्री बोली, 'चुप रहो । खबरदार जो एक भी शब्द कहा तो ।'

हरिनाथ भी बोले, 'हाँ, दिव्या चुप रहो बेटा । अगर देखना चाहते हो तो देख लो । यूँ राज ही करोगी । वर की नौकरी भी है और घर भी । उम्र भी कोई खास नहीं······अफसर हैं अफसर ! कार है उसके पास···'

'और तीन बच्चे भी हैं ।'

'बच्चे तेरे से क्या मागेंगे ।'

'जो वह माँ से माँगते हैं––' कह कर दिव्या इतनी जोर से रोई कि सारा वातावरण दहल सा गया ।

श्री भी चुप रही और हरिनाथ भी मौन ; अकेली दिव्या सिसकियाँ लेकर रोती रही और शाम का माथा और गहरा होता गया ।

दस

* * *

सुधीर ।

दिव्या के सपनों का मीत, उसके आने वाले भविष्य की आशा—वही तो एक सहारा है। और वही जा बैठा है ऋषिकेश के इस सुर-झप्पारियों में।

कैसा अजीब है भारत के नौजवानों का भविष्य। प्रजातन्त्र है; सबको उन्नति का अवसर है, पर अवसर मिलता है चन्द लोगों को। सपना सब देखते हैं और यह सपनों की बातें ही उनके जीवन को सालती चली जाती हैं।

सुधीर ने भी एक सपना देखा था। आकाश का सपना नहीं, महलों का सपना नहीं, बड़ा साधारण सा सपना देखा था उसने। एक ऐसा सपना जिसमें वह होगा। मनो जीजी होगी और दिव्या होगी। मनो जीजी उसके जीवन का आधार थी, उसी की छत्रछाया में वह बड़ा हुआ था शिक्षित हुआ था और उसके देखते-देखते ही उसके सारे सपने मिट से गये।

शेष रह गया मनो का वैधव्य, तारा पांडे का कर्जा और बेकार जीवन की विषमता।

ऋषिकेश के बने इस श्री भवन की छोटी सी कोठरी में वह बैठा था। सिर पर धूमिल लालटैन लटक रही थी।

ठीक उसके भविष्य की तरह ।

उसका भविष्य भी इसी लालटेन की तरह धूमिल है और बेड़ियों के रूप में पड़ी है कर्ज की बेडियाँ । अवयस्क सा सुधीर सोच रहा था कि क्या हिन्दुस्तान के हर लड़के का भविष्य इसी तरह अन्धे का रूप है । कितने समय से उसने बी० ए० पास किया था । यह सोचकर कि बी० ए० पास होने के बाद तो उसे नौकरी मिल ही जायेगी । यूँ वह बी० टी० भी कर सकता था और लायब्रेरियन का कोर्स भी । पर उसे न तो बी० टी० करने पर ही कोई भविष्य दिखलाई देता था और न लायब्रेरियन का कोर्स मिलने की कहीं संभावना हो और अगर कोर्स मिल भी जाये तो सत्तर पचहत्तर रुपये प्रतिमाह कर्जा चढ़ा लेने पर भी कौनसी ऐसी गारंटी थी कि उसे नौकरी मिल ही जायेगी । जाने कैसी बुरी तकदीर होती है उस व्यक्ति की ।

जीजी हैं, पिता जी हैं, कर्जा है और इन सबसे ऊपर है दिव्या, जो उसे देवता की तरह पूजती आई है । उसी का खत लिये बैठा है सुधीर । लिखा था, सुधीर, मेरे देवता ।

तुम नहीं आये । आये थे और आकर चले भी गये । मैंने तुम से मिलने की सोची थी, पर तुम आये ही नहीं । मेरे देवता, क्या इसी तरह पीछा छुड़ाया जाता है । बोलो तो ।

खैर चले गये सो चले गये, पर यह तो बतलाओ मुझे किस पर छोड़ गये ।

मेरी नाव डूबी तो वह क्या तुम्हारी नाव नहीं होगी । आजतक बाबू जी कहते थे कि मैं एक लड़का हूँ । उनके दो लड़के हैं । उनके लड़की कोई है ही नहीं । वे समाज से डरते ही नहीं, वही आज मुझे निकालने पर तुले हैं । उन्हें समाज याद आ रहा है, धर्म याद आ रहा है और मेरी लगाम किसी को भी थमाने को तैयार हैं ।

तुम सच कहते थे। हिन्दुस्तान के समाज में लड़की की कीमत बूढ़ी गाय से भी कम होती है। उस गाय को वे कसाई के हाथों थमाना गलत समझते हैं और न बूढ़े ग्वालों के हाथों। चाहे वह उसे काटकर फेंक दे या उसको अलमारी में सजाकर रख दें। पर सुधीर न तो मैं गाय हूँ और न गुड़िया। बाबू जी ने मेरा नाम दिव्या रखा था। उसी नाम को सार्थक करना है।

और मैं क्या करूँगी यह तुम भली भाँति जानते हो। इसे बतलाने की जरूरत नहीं। बस जरूरत यह है कि तुम आजाओ एक बार। जैसे रखोगे रह लूँगी। जो खिलाओगे खा लूँगी। भूखा रखोगे, चिथड़े पहनाओगे तो भी उफ न करूँगी। पर मेरे देवता, मैं किसी और के साथ जाना पसन्द नहीं करूँगी।

उम्मीद है कि तुम आओगे। मैं तुम्हारी राह देखूँगी। जीवन भर का फैसला अभी होगा सुधीर, अभी······

—तुम्हारी दिव्या

सुधीर ने एक एक अक्षर धुँधली लालटैन की मध्यम रोशनी में पढ़ा और पढ़कर एक गहरी साँस ली।

जीवन का फैसला!

किसका दिल है वह?

रात की काली चादर ने पूरे वातावरण को ढक लिया था। अन्धेरा चारों ओर फैल रहा था और उस पर यह चुप्पी। यूँ भी ऋषिकेश ऐसा छोटा सा पर्वतीय शहर है कि जहाँ शाम से ही सन्नाटा होता जाता था। धीरे-धीरे सब मिट जाता था। शेष रहता है अन्धकार और गंगा का मचकता नाद।

पहाड़ों से टकराती गंगा शोर करती है तो ऐसा लगता है जैसे वह इन्सान के भाग्य का रुदन सुनती सुनती थक गई है और अब स्वयं ऐसा शोर कर देती है।

ऐसी रात में सुधीर के हाथों दिव्या का पत्र काँप रहा था और दिव्या की आकृति उतर रही थी।

क्या करे वह !

असहाय निर्बल, साधारण से इन्सान क्या प्यार कर सकता है। क्या समाज से लड़ सकता है। क्या सोचेंगे पिता जी।। क्या कहेगी जीजी। कैसे बनेगी बात।

दिव्या को तो कुछ न कुछ चाहिये ही।

'दिव्या ?'

कैसे कह दे वह दिव्या को नहीं चाहता। कैसे कह दे कि दिव्या उसे नहीं चाहती।

पर क्या सब चाहा हो जाता है। चाहा ही नहीं, अनचाहा भी होता है। और अगर चाहा भी होता रहे तो अनचाहा कौन है। अगर सब अपने हों तो गैर कहाँ जाये। अगर दुनियाँ चमन हो तो विराने कहाँ रहें : अगर प्यार सफल हो ही जाये तो प्यार के अफसाने कैसे बनें। कौन याद रखे इस प्यार को। प्यार सुख नहीं, दुख है। समाज से समर्थ लड़ सकता है असमर्थ नहीं। क्या सुख देगा वह दिव्या को।

सुख !

शान्ति···

इनके बाद ही प्यार का क्रम आता है। हाथ थामना सरल होता है, निभाना कठिन, बहुत कठिन। वह जग हंसाई नहीं चाहता। वह तो संसार का एक छोटा सा प्राणी। सामाजिक प्राणी, प्राणी नहीं जन्तु। जन्तु भी ऐसा जिसका काम है दुम हिलाना। दुम, पानी की पूँछ। और पूंछ हिलाना भी उसे किसी संकेत पर पड़ता है।

क्या करे वह।

सारी रात वह पहाड़ों की ओट में खिलवाड़ करते तारों को देखता

रहा। पर जैसे ही आँख लगी, उसके सामने दिव्या आगई। पीली, मुरझाई दिव्या को समाज ने तोड़कर रख दिया है, लोगों ने उसे सिर से पाँव तक लहूलुहान कर दिया है। दिव्या के चेहरे पर खरोंच के निशान चमक रहे हैं। वह न रो सकती है न हँस सकती है। वह मौन है एक दम मौन।

दिव्या!

....

दिव्या तुम्हें क्या हुआ है।

वह फिर चुप रही।

क्या हुआ है दिव्या?

किसने किया है यह दिव्या।

दिव्या!

बोलो दिव्या, बोलो, कौन है वह?

बोल दो दिव्या।

तुम नहीं बोलोगी तो मैं···पागल हो जाऊँगा। मुझे एक बात बत-लादो दिव्या एक बार कह दो अपने मुँह से मुँह से बतलादो कौन है वह—मैं उसका खून पीजाऊँगा उसके कतले-कतले कर दूँगा; उसकी···'

'सच।'

ऐसा लगा जैसे दिव्या ने ही कहा हो, पर दिव्या के ओंठ नहीं थे। वह तो एक बुत की तरह खड़ी थी। पर इस बात से उस पर कोई असर नहीं पड़ा। वह उसी तरह चीखता रहा, 'हाँ, दिव्या, हाँ। तुम मुझे बतलादो। बस एक बार······

एक बार दिव्या।

दिव्या ऽ ऽ, ओ दिव्या।

वह फिर चीखा, बोलो दिव्या। बोलो?,

पर दिव्या कुछ नहीं बोली, मौन रही और धीरे-धीरे उससे दूर होती गई। जैसे छाया सिमटती है, धूप सिमटती है और दूर तक चली जाती है।

'बोलो दिव्या···'

जोर से चीखते-चीखते उसकी आँख खुल गई। उसकी मुट्ठियाँ तनी थीं और दिव्या का पत्र उसके हाथों फट गया था। सुबह की बेला थी। रात बीत चुकी थी, पौ फट रही थी और पड़ोस से कोई छात्र गीता का पाठ कर रहा था। उसका स्वर गंगा के स्वर के साथ उमड़ रहा था।

न चैतद्विम : कतरन्नो गरीमो।
भद्वा जयेम यदि वा ताँ जपेयु :
मानेव 'हत्या न निर्जीविषाम।
स्ते युवास्थिता : प्रमुखे धार्तराष्ट्रो :

पर वह न तो अर्जुन था और न उसे मोह हुआ था। और अगर मोह हो भी जाये तो वह कौन सा उसे पालेगा। क्षण भर के लिये उसने लिखे हुये पत्र को देखा और फिर दातुन करने चला गया।

ग्यारह

* * *

दिव्या जो कुछ कर सकती थी, उसने सब कुछ कर लिया पर न हरिनाथ ने उसे सहारा दिया और न सुधीर ने। उसे अगर कुछ थोड़ी सी मानवता दिखलाई पड़ी तो सिर्फ रामनाथ में। उस दिन लौट रही थी कि रामनाथ अपनी खचरा गाड़ी लेकर आ उपस्थित हुये।

'आइये, दिव्या जी।'

'जी।'

'आइये।'

उसने इस तरह देखा जैसे नागिन फुँकारती है। जैसे खाजायेगी उसे।

रामनाथ तो शिष्टता और सौम्यता की मूर्ति बना हुआ था। बोला—'कार हाजिर है।'

'और आप!'

'मैं तो हूँ ही।'

'आप हाजिर हैं।'

'जी।'

'लेकिन मैं हाजिर नहीं हूँ।'

'दिव्या जी।'

रामनाथ ने कहा, 'कोई बात नहीं। मैं इन्तजार कर लूँगा।'

'आप इन्तजार करेंगे?'

'हाँ।'

'कब तक?'

'जब तक आप कहें।'

'फिर भी।'

'शायद इस जन्म। पर कार ने तो आपका कुछ नहीं बिगाड़ा। आइये बैठिये—'

दिव्या बैठ गई। रामनाथ के पास नहीं पीछे। रामनाथ को मोटर चलानी थी। उसे आगे बैठना ही था। फिर भी कार चलाते हुए पूछा—'एक बात पूछूँ?'

'पूछिये।'

'मैं आपसे बातचीत तो कर सकता हूँ।'

'अब क्या कर रहे हैं आप?'

रामनाथ बोला—कर तो रहा हूँ। पर आप डाँट भी तो सकती हैं। बतलाइये, मैं आपको पसन्द नहीं।'

'क्या कहते हैं आप।'

'मैं आप से प्यार करने की क्षमता रख सकता हूँ या नहीं।'

'यह मैं कैसे जानूँ।'

'आप यह तो जानती हैं कि मैंने स्वयं तुम से प्यार माँगा है।

'हाँ।'

'और आपने अस्वीकृत कर दिया।'

'यह आपसे किसने कहा ।'

रामनाथ ने उत्तर दिया, मन ने ।'

'मन ने ?'

'जी हाँ ।'

'तो उसी से बाकी सवालों का जवाब भी ले लीजिये ।'

'न ; दिव्या, न ।'

'तो फिर ।'

'आप ही दो इस बात का जबाब ।'

'जवाब चाहते हैं ।'

'हाँ ।'

'गाड़ी रोकिये ।'

'बिना रोके जवाब नहीं मिलेगा ।'

'नहीं ।'

'क्यों ।'

दिव्या ने एक क्षण रामनाथ की पुष्ट कमर की ओर देखा ; फिर कहा—सुनिये, जवाब सुनकर आप मुझे इस कार में बिठलाना पसन्द नहीं करेंगे ।'

'हूँ ।'

'हाँ ।'

'लीजिए, कार रोक दी मैंने । कहिए अब ।'

दिव्या ने कहा—'सुनो । अस्वीकृत या स्वीकृत होना बहुत बड़ी बात है । किसलिए लौटाना कैसा । लेन-देन के बीच अंगीकृत की एक रोक होती है और वह रोक न हो तो कैसा स्वीकार कैसा अस्वीकार ? मैंने तो अंगीकार तक नहीं किया इसे ।'

'कभी तो करोगी ही ?'

'रामनाथ जी ।'

दिव्या ने तड़प कर कहा, 'रामनाथ जी । आप......' साथ ही वह दूसरी दिशा में चल दी । पर रामनाथ के पास कार थी । जिससे दिव्या पार न पा सकी । वह अभी कुछ ही कदम चली होगी कि रामनाथ ने वहाँ आकर कार रोक कर कहा, 'सुनिये । मैं अगर प्यार चाहता हूँ, तो क्या बुराई चाहता हूँ । अगर मेरे जीवन में रिश्ता है तो इसमें मेरा कसूर कितना है । बतलाइये न ?'

'मैं कुछ नहीं बतला सकती ।'

'अच्छा, न बतलाइये । पर बैठ तो जाइये । देखिए अंगीकार करें या न करें । इसमें बैठने का अधिकार तो है ही आपको ।'

'अधिकार, कैसे हो गया ?'

'आप मेरी......'

'मंगेतर हूँ यही न ।'

'न'—रामनाथ ने उस उदास बोझिल पंखों पर तैरती वायु को भेदकर धीरे से कहा—'कविता-वविता मैं नहीं जानता । पर मेरे दिमाग और मेरे दिल पर तुम्हारा असर है और रहेगा ।'

'अच्छा ।'

'हाँ, वह असर उस वक्त तक नहीं उतरेगा......' कहकर रामनाथ स्वयं ही लजा गये और अनुपम विनय करके उसे लिवाकर ले गये ।

लौटने पर उसे कुछ-कुछ ऐसा महसूस हुआ जैसे रामनाथ उसके अन्तर के किसी छोर में बैठ गया हो । उधर माँ श्री और हरिनाथ शादी की तैयारियों में जुटे थे । बहुत जल्द उसकी शादी हो जायेगी, बस यही बात हर एक के दिमाग को कौंध रही थी ।' गीत गाये जा रहे थे, वन्दनवार सजे थे और धीरे-धीरे सारा वातावरण शहनाई की

खुशी में प्रफुल्लता बटोर रहा था। दिव्या सोचती थी शादी और शादी के बाद······।

तभी हरिनाथ का चेहरा दीख पड़ा। उनके चेहरे पर उतावलापन था, आँखों में न खतम होने वाली खामोशी और सोचे सपनों जैसा संसार। फिर भी उनके पैरों में कार्य कौतुहल था और वे जल्द ही सब कुछ समाप्त करने की फिक्र में थे।

रामनाथ ने कोई दहेज नहीं लिया था, और साथ ही दो हजार के नोट उसके सामने लाकर रख दिये थे। चेहरे पर न उदारता का भाव था और न एहसान का प्रदर्शन।

'यह क्या ?'

'वक्त जरूरत काम आने की सम्भावना।'

'नहीं, रामनाथ।'

'हाँ—'

'मैं कहता हूँ······'

'देखिये, रामनाथ ने गिड़गिड़ाकर कहा, 'आप कुछ मत कहिए। मैं सब कुछ सुन लूँगा, पर अभी नहीं······'

और हरिनाथ ना नहीं कर पाये। सौ के बीस नोट, हवा में हिलते रहे और रामनाथ मुड़ गया।

भारी मन से हरिनाथ लौटे, और लौटे तो उनके मन में आया कि वे अपना सिर काट लें। सीधे पूजाघर में गये और उस पूजनीय मूर्ति के सामने वे नोट पटक कर बोले, 'और कुछ! हरिनाथ तुम्हें पूजता-पूजता इन्सान से व्यापारी बन गया। व्यापारी···बेटी बेचकर आया है? दो हजार रुपये में, बेटी। सस्ता सौदा तो नहीं है भगवान······ बिल्कुल नहीं है, क्यों ?'

बराबर के कमरे में दिव्या लेटी थी। अनमनस्क, परेशान सी।

उसने भी यह प्रलाप सुना। पर यह रोग सुन कर यह परेशानी सुनकर उसे ज़रा भी दुख न हुआ। पर आज जैसे उसे अपने जन्मदाता पिता पर अजीब सी प्रतिक्रिया हुई। उसका मन चाहा कि वह कह दे—ढोंगी······'

पर नहीं कह पाई। कैसे कहे, कौन कहना छोड़ दे। हरिनाथ उसके पिता , उसका खून ही उसमें उबलता है। फिर कैसे भूल जाये इस बात को। पर यह भी तो कठोर सत्य है कि हरिनाथ अगर चाहे तो वह उसी तरह रह सकती हैं, क्वारी ही। पर हरिनाथ उसका बाप होने के बावजूद एक सामाजिक प्राणी भी है, जिसके ईर्द-गिर्द समाज झूमता है; और उसे उसी में रहनुमायी है। फिर वह कैसे इन्कार कर सकता है। वह तुच्छ जीव, और इतना बड़ा समाज। वह अभी भी इसी तरह गिड़गिड़ा रहा था और चीख रहा था कि वह अपराधी है, समाज की उस अदालत का अपराधी जो आज नहीं तो कल, कभी तो उसे सजा देने में समर्थ होगी ही।

ठीक उसी कल्पना की भाँति भी भगवान जैसे उसकी बात सुन रहा है, उसे विश्वास था कि आज या कल वह इस बुरे काम की सजा जरूर पायेगा।

सोचते-सोचते हरिनाथ की आँखों में आँसू छलछला आये और वह रुँधे गले से मूर्ति के सामने झुक गया। उधर लेटी हुई दिव्या की आँखों से आँसू सूख गये और प्रतिहिंसा की ज्वाला उसमें भड़क उठी।

बारह

***

वही लग्नमंडप, वही शहनाई, की धुनें, और वही सामाजिक रीति-रिवाज। रामनाथ के सिर पर मोहर बँधा था; माथे पर सुगन्धित फूलों का सेहरा लटक रहा था और दिव्या अभी भी इस इन्तजार में थी कि सुधीर आये और उसे ले जाये।

पर न सुधीर को आना था, न आया वह। आया उसका एक खत जिसमें लिखा था।

'दिव्या।'

कुछ दिन पहले तुम्हारा पत्र मिला था। ऐसा पत्र जो तुम्हें बड़ी ही प्यारी लेखिका बना सकता था। वह पत्र में साथ दे रहा हूँ और चाहता हूँ कि भविष्य में तुम ऐसे पत्र अखबार या पत्रिकाओं के सम्पादकों को लिखा करो। मैं ठहरा गरीब, बेकार व्यक्ति। मुझ में समाज से लड़ने की हिम्मत नहीं है।

पर अपने से मैं लड़ना जानता हूँ। लड़ता आया हूँ और लड़ता रहूँगा। तुम्हें अपने से अलग नहीं समझता, दिव्या। इसीलिए कहता हूँ कि तुम से लड़ना भी मेरे कार्यक्रम है। प्यार का नाम मिलन नहीं होता। अगर होता तो यह परिस्थिति न होती। समझ गईं।

विवाह की शुभ कामनाओं सहित।

तुम्हारा सुधीर,

विवाह की शुभ कामनाये !

शादी मुबारक ! !

शादी मुबारक ! ! !

हाँ, शादी मुबारक । सच ही शादी मुबारक । नई जिन्दगी, घुटन, भीरूता, आत्मपीड़न, बाप जैसे व्यक्तित्व के साथ कैसा सम्बन्ध ? झुर्री पड़े सोहाग के फूल ; बूढ़ी सुहाग रात मुबारक । मुबारक ! इस लिए कि हरिनाथ ने कन्यादान ले लिया । विनोद ने हाथ पीले कर दिये । रामनाथ का घर बस गया । तीनों बच्चों की माँ मिल गई । इससे बड़ा मुवारक काम और क्या हो सकता है ?

दिव्या ने खत को भींच कर झोली में रखा, और दाँत पीस कर कहा—निर्दयी ! नीच !! राक्षस !!!

आगे क्या कहा न तो कथाकार ने सुना और न उसने सुनाया ही । उसका स्वर शहनाई के स्वर में खो गया, क्फावे के स्वर में खो गया । शेष रह गयी एक जिन्दा लाश, एक मुर्दा और दिव्या पर सजे आभूषणों का ढेर ।

अगली सुबह दिव्या के हाथ पीले थे, उसकी आँखों के पोटे सूजे हुये थे ; उसके स्वर का कम्पन रुका हुआ था और वह कार में बैठी इस गन्दी बस्ती को छोड़ कर जा रही थी, अपने पिता के यहाँ से पीके घर । बराबर में बैठा रामनाथ बार-बार प्रयत्न करता था, कि उसका हाथ पकड़ कर गरमी दें; बार-बार वह हाथ ले भी जाता था, पर दिव्या को ऐसा महसूस होता था जैसे वह एक ठण्डा हाथ उसकी तरफ बार-बार बन रहा है ' निर्जीव, ठण्डा, झुरियों वाला हाथ । उसके मन में रह-रह कर हूक उठती है, और अन्तर चीख उठता है और याद आती है वे पँति : ।

Nothing : the Autumn fall of leoves.

केवल शिशिर के पत्तों का झरना !

पत्ते झर रहे थे और कार में बैठी दिव्या सोच रही थी कि काश एक एक्सीडेन्ट हो, दुर्घटना और वह मर जाये। धरती फटे और वह उसमें समा जाय।

काश !

उसे जैसे बेहोशी आ रही थी। वह कार के एक सिरे पर लुढ़क गई थी और कार एक झटके से हड़बड़ा उठी थी।

भयानकता ने अपने लम्बे हाथ फैला दिये थे।

दूसरा खण्ड

टूटे दिन बिखरी रातें

Such a small lamp illumins on this High way.

So dimly so few steps in frant of my feet, yet shows me that her way vig panted from my way.

Out of soght, pey and light, at what goal we may meet.

(Rosely)

एक मग्न दीप सा,
अतीत जलता है कुछ टिमटिमाता सा,
पर रास्ते पर कारवाँ,
जिन्दगी का,
बढ़ ही जाता है।

एक

* * *

पर कुछ हुआ नहीं। सुहागरात बीत गई। आवागमन समाप्त हो गया। सब कुछ स्थिर सा हो गया। रामनाथ ने; या रामनाथ के साहस ने घर को सम्हाल लिया। दिव्या गृहस्वामिनी बन गई। समीर को तो नहीं, अलबत्ता किरण को जरूर माँ मिल गई थी। दिव्या उसी के साथ घूमती-फिरती रहती थी। उसी की चोटी पट्टी ही में दिन निकाल देती थी। समीर को अलबत्ता जरूर कुछ महसूस हुआ था।

पर अब सारे घर पर दिव्या का साम्राज्य था और दिव्या के दिमाग में एक ही बात छाई हुई थी कि प्रतिहिंसा ही उसका अमोघ अस्त्र है। उसे बदला लेना है। बदला! पुरुष जाति से बदला। पुरुष, जो सदियों से स्त्रीजाति को कष्ट देता आया है। राक्षस कहीं कीं; ये पुरुष जाति।

प्रतिहिंसा ने जैसे उसका भाई चारा समाप्त कर दिया था। वह उच्छृंखल होती जा रही थी। हरिनाथ के साथ भी और विनोद के साथ भी।

उसने हरिनाथ से नेग के रुपये लेने से भी इंकार कर दिया। वह निकलकर भी नहीं आई। किरण ने सूचना दी, नाना जी आये हैं। आपको बुला रहे हैं।

'मैं नहीं आसकती। तू जाकर कह दे किरण।

हरिनाथ तो बाहर ही खड़े थे, बोल उठे, बेटी नहीं आसकती। मैं तो आसकता हूँ। लो आ गया। लो।'

'बैठो बाबू जी।'

'बैठ भी गया। और बोल बेटी। ठीक है?'

'हाँ।'

'कोई दुख।'

'ना।,

'तेरी माँ तुझे याद करती है। क्या कहूँ?'

दिव्या ने पूछा, 'कहना जरूरी है क्या बाबू जी?'

'हाँ।'

'तो धन्यवाद कह देना।'

'और बेटी?'

दिव्या बोली—'धन्यवाद काफी है बाबू जी, बहुत काफी है।'

'बस...'

'अगर पूछें ही तो कह देना, बिकी चीज के बारे में सोच कर जी भारी नहीं करना चाहिये।'

'दिव्या; तू ऐसा कहती है।'

'सच को झूठ बनाने से लाभ भी तो कोई नहीं।'

हरिनाथ बोले—'क्या तू बिकी है?'

'हाँ। दो हजार में बिकी हूँ बाबू जी। आप जायेंगे या ठहरेंगे, मुझे काम है।'

'मैं 'जाऊँगा ही दिव्या।'

'अच्छा नमस्कार।'

'अब कब आऊँ, बेटी ?'

आना जरूरी है क्या ?'

'विद्रूप स्वरूप में हरिनाथ ने पूछा—'तो न आऊँ।'

'ना बाबू जी।' दिव्या बोली, आप तकलीफ क्यों करेंगे। अच्छा नमस्कार···' कह कर आर्शीवाद की प्रतीक्षा किये बगैर वह भीतर चली गई। हतप्रभ हरिनाथ बच्चें सिर पर हाथ फेर कर जा चुके थे। बूढ़ा पुरुषोत्तम रसोई घर में दाल पका रहा था।

'उसकी छाया देखकर काँप उठी दिव्या। यह भी तो पुरुष है ? उसी जाति का एक सदस्य।

'पुरुषोत्तम।'

'जी, बीबी जी।'

'यहाँ आओ।'

'आगये बीबी जी, कहो।'

दिव्या ने क्षणभर को पुरुषोतम की तरफ देखा और फिर कहा—'कितने दिन से नौकर हो यहाँ।'

'दस साल से।'

'दस साल से ?'

पुरुषोतम बोला—'जीहाँ, बीबी जी। दस साल। किरण पेट में ही पड़ी होगी तब। तब हम आये। हमारी छबि साढ़े छैः साल की थी।'

'तो यानी—' दिव्या ने हिसाब लगा कर बतलाया, 'छवि सोलह साल की होगी।'

'हाँ बीबी जी।'

'शादी कर दी।'

'कहाँ की—बस यही तो एक पाप है सिर पर। भला शादी हो जाये तो सब ठीक हो जाये। आप महरबान रहें, बीवी जी भगवान सब सुनेगा, सब।'

'सुनो।'

'जी बीबी जी।'

दिव्या ने कहा—'अब हमें घर का काम करवाने की जरूरत नहीं है। तुम जाओ—शाम को आना और हिसाब कर लेना।'

'बीबी जी।'

'जो कहा है वह करो।'

'हमारा कसूर, बीबी जी।'

दिव्या ने चीख कर कहा—'कसूर होने पर ही बर्खास्तगी हो ऐसा तो कोई कानून नहीं है। मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं, क्या इतना बतला देना काफी नहीं है।'

'मैं जाऊँगा कहाँ।'

'यह मैं नहीं बतला सकती।'

'बीबी जी।'

पर फरमान सुना कर दिव्या रुकी नहीं। सीधी चली गई भीतर। दबे नंगी दिवारों को देख कर बरबस उसके मुँह से मुस्कान फूट गई। कल इन दीवारों पर पुरुषों के चित्र थे; उन पुरुषों के चित्र जिन्हें दुनिया महापुरुष कहती है। उन्हीं महापुरुषों के चित्रों को उतार कर दिव्या ने दिवारें नंगी कर दी थीं। यही नहीं समीर को भी स्कूल पैदल जाने-आने को कहा था। विनोद से तो वह बात तक नहीं कर पाई थी। प्रतिहिंसा की ज्वाला ने उसे जलाकर खाक सा कर दिया था।

दो

***

रामनाथ स्वभाव से भीरु हों न हों पर दिव्या के व्यक्तित्व के नीचे ही आते हैं, ऊपर नहीं।

आखिर पुरुषोत्तम को छुट्टी मिल ही गई। कुछ देर उन्होने चाहा कि दिव्या मान जाय और यह अनर्थ होते-होते बच जाये। पर तब दिव्या चीखकर बोली, नहीं, तो वे बोले—'नहीं।'

'हाँ, नहीं।'

'पर दिव्या, पुरुषोत्तम जायेगा कहाँ ?'

'जहाँ चाहे।'

'वह बूढ़ा है, अपाहिज है। उसे नौकरी कौन देगा। उसके एक लड़की भी है जिसकी शादी होनी ही चाहिये।'

'अच्छा।'

'हाँ, दिव्या। और वह बूढ़ा ही नहीं घर में औरत भी है। वह इस घर में इसलिए टिका था कि हम लोग माँस मच्छी नहीं छूते। आखिर वह......'

दिव्या ने ऊँचे स्वर में कहा, 'सुनिये मैं जो सोच लेती हूँ, वही होता पुरुषोत्तम यहाँ नौकरी नहीं कर सकता। इस घर में कोई पुरुष नौकर नहीं होगा।'

'दिव्या, यह तुम्हारा ग्राखिरी फैसला है।'

'हाँ।'

'सोच लो।'

'सोच लिया। सोचकर ही उसे हटाया था।'

'अच्छा।'

बुझे दिल से रामनाथ ने दो महीने की तनख्वाह देकर पुरुषोत्तम को विदा कर दिया। पुरुषोत्तम को तो ऐसा महसूस हुग्रा जैसे उसकी ग्राँखों के ग्रागे ग्रन्धेरा छा गया। क्या करे वह। उसने बड़े लोगों को कोसना शुरू किया। वाह! क्या बात है, जब तक जवान था, उसकी भुजाग्रों में बल था, तब तक ही उसे पेलते गये काम कराते ग्राये ग्रौर ग्रब उसे छुट्टी दे दी। ग्रोछे घर की ग्रोछी ग्रौरत।

राह में उसे रोता सुबकता सुधीर मिला था उसे कन्धे पर बिठालकर वह उसके स्कूल छोड़ ग्राया था ग्रौर ग्रब उसे छुट्टी थी, सारे दिन छुट्टी। वह खामोश रहकर इस दिन को काट सकता है, वह रोकर इस दिन को काट सकता है। क्या करे वह। ग्रचानक ही उसके सामने से एक लड़का गुजरा। उसका नाक नक्शा बिल्कुल दिव्या से मिलता है। कौन है यह।

होगा कोई।

पुरुषोत्तम ने उपेक्षा से उसकी ग्रोर देखा ग्रौर घर ग्रागया। टूटा-फूटा घर ग्रौर उस पर किरण की कारीगरी। ग्रौर दिन में वह तब ग्राता था जब सूरज सिर पर हो। एक दो घड़ी सुस्ताने। फिर ग्राता था ग्राठ बजे। ग्राज जल्दी ही ग्राया। छवि स्कूल गई हुई थी। पर ग्रल-मारी में उसकी किताबें बिखरी थीं। बहुत दिनों बाद उसे छवि पर क्रोध ग्राया। उसने फैसला किया कि वह उसे काट कर सुखा देगा। चुड़ैल सा। ग्रपना सामान ही नहीं सम्हाल सकती तो ग्रौर क्या करेगी।

'जाता है या बुलाऊ पुलिस को। आया बड़ा डाँटने वाला—' कहकर दरबान औरत धम् से कुर्सी पर बैठ गई। वह चौड़े मुँह की एक काली औरत थी, जिसका वजन साधारण औरतों से सवाया था। उसकी माँग में सिन्दूर की ऐंठन थी और वाणी में बात करने की ऐंठ। वह जैसे हुक्म लेना भी जानती थी, वैसे देना भी। उसकी आवाज सुनकर पुरुषोत्तम ज्यादा देर न ठहरा।

अनमना और उदास पुरुषोत्तम लौट आया था।

तीन

* * *

बड़ा प्यारा फ्लेट था दिव्या का। दिन में चमेली और गुलाब महकते थे तो रात को रजनी गंधा और मेंहदी। कई छोटे-मोटे कमरों में बँटा था। यहाँ आकर उसने महसूस किया कि विधाता ने सिर्फ इतना कर दिया है कि उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसके पर कतर डाले हैं और इसके बदले में उसे अच्छे खासे घर की स्वामिनी बना डाला है। रामनाथ हर परिवर्तन को बड़े गौर से देखते थे। और जरा सा मुस्करा देते थे। उन्हें दिव्या पर विश्वास ही नहीं प्यार भी था, जिसके लिए वे सब कुछ होम कर सकते थे।

सुबह की आने वाली धूप ने आँचल छिटकाया ही था कि विनोद ने प्रवेश किया।

'जीजी।'

'हाँ—'

'मैं आया हूँ जीजी।'

'अच्छा आया है तो बैठ।'

विनोद बैठ गया। पर उसकी चंचल आँखें थीं परेशान। वह समझता था जीजी उसे दुलरायेगी; आपाधापी उसकी शरारतों की बात पूछेगी, पर दिव्या मौन रही। कतई मौन।

"जीजी ।'

'हाँ—' दिव्या ने फिर सिर उठाया । अभी-अभी उसने रामनाथ जी को विदा किया था । महरी बर्तन साफ कर रही थी । उसके आने से पूर्व ही वह कोई कसीदा काढ़ने बैठ गई थी । इस बार जो विनोद ने पुकारा तो दिव्या को लगा जैसे उसने कोई भूल की हो । कशीदा छोड़कर उठी और बोली—'क्यों रे, चाय पियेगा ?'

'न जीजी ।'

'तो रुपये चाहिये, तुझे ।'

'नहीं ।'

'तो फिर ।'

'जीजी—' भयभीत वाणी में विनोद बोला—'सुनो जीजी ? मैं तुम्हारा भाई हूँ । बचपन से हम सब साथ रहे हैं ।'

'हाँ रहे तो हैं, फिर ।'

'जीजी ! मैंने तुम से कभी कुछ नहीं छिपाया । आज भी नहीं छुपाना चाहता । बात यह है कि······'

'क्या बात है ।'

'बात यह है जीजी कि मैं···'

'हाँ हाँ कह न ।'

'जीजी ।'

दिव्या इस अन्तराल से परेशान हो उठी थी, चीखकर बोली—कह न ।'

'मैं कहूँगा, जीजी । कहूँगा । लिखकर कहूँगा ···?

'अच्छा' दिव्या बोली, तो ले लिखि कलम है दूँ ।'

'है जीजी।'

'है तो लिख।'

पाँच मिनट बाद दिव्या ने पढ़ा, बड़ी कठिनाई से विनोद ने लिखा था, 'जीजी, मैं शादी करना चाहता हूँ।'

'शादी करेगा तू।'

'हाँ।'

किससे।'

'है एक लड़की।'

'कौन है वह ?'

विनोद बोला, विद्या मन्दिर की छात्रा है जीजी।'

'और तू...'

दिव्या क्षण भर मौन रही, फिर बोली, खिलायेगा कहाँ से। उसे रखेगा कहाँ...'

'यहाँजीजी।'

'कहाँ।'

'जीजी यहाँ।'

'यहाँ—' दिव्या चौंक उठी, मन में आया कि उसका माथा चूम ले। पर यह भाव क्षण भर ही रहा, दूसरे क्षण हो वह विद्रूप हो उठी। चीखकर बोली, तेरा दिमाग तो ठिकाने है। कहाँ है वह लड़की बोल ?'

बोल।'

'जीजी ५'

'बतला कहाँ रहती है वह। मैं उसके माँ-बाप को साफ साफ

बतला दूँगी । जरूर तूने उसे प्रलोभन दिये होंगे, बोल ।'

'तो तुम सहयोग नहीं करोगी ?'

'नहीं ।'

'अच्छा ।'

विनोद चलने लगा तो दिव्या ने पूछा—'ठहर चाय तो पीले ।'

'नहीं, चाय नहीं पियूँगा ।'

'क्या नाम है उस लड़की का ।'

'नाम पूछकर क्या करोगी जीजी । तुम बड़ी आदमिन हो गईं । अब काहे को सहयोग करने लगी । गलती की जो यहाँ आया ।'

'अब मत आना ।'

'नहीं आऊँगा ।'

कहकर विनोद उठ खड़ा हुआ और वह साथ उस पैन को भी जो टूट चुका था, पर दिव्या ने एक दिन उसे दिया था । वहाँ तोड़ता गया । विनोद चला गया तो दिव्या ने पैन उठाया । टूटा जर्जर पैन । इस पैन पर दोनों भाई बहनों की लड़ाई होती थी, और उस रात उदारतावश दिव्या ने वह पैन उसे दे दिया था । आज वह पैन विनोद उसे दे गया, उसे लौटा गया ।

दिव्या का दिल भर सा आया, पर तभी किरण उससे आकर लिपट गई और वह सारा दुख भूलभाल कर उसकी हो रही ।

चार

* * *

बस का एक छोटा सा शून्य स्टाप और सर पर तना साया।

दूर तक न कोलाहल, न चहल-पहल। तीसरे पहर का समय और ढलता सूरज।

कुम्हलाई सी एक लड़की खड़ी थी वहाँ। कि विनोद आगया। नीले रिबन बँधा सिर उठा, और अपार वेदना संजोये, आँखें ऊपर उठ आईं। लगता था जैसे सारी रात किसी ने उसे अच्छी तरह धुना था और सारे दिन वह जार-जार रोई थी।

'हैं तो।'

'तुम।'

'हाँ मैं, टाईम निकला तो नहीं ?'

'नहीं।'

'देख लो कैसे सुई से सुई मिलाकर चलता हूँ।'

'चलते तो हो।'

विनोद जो बेहद दुखी था, परेशान था, अपने चेहरे पर प्रसन्नता की लहर लाकर बोला, 'क्या हुआ है तुम्हें।'

'कुछ नहीं।'

'कुछ नहीं । इतनी तो उदास हो ।'

'बहम है ।'

'और ये आँखें कैसे सूजी हैं ?'

'इनाम मिला है ।'

'काहे का इनाम, जल्दी बोलो—'

विनोद की हड़कम्पबाजी से छवि, के चेहरे पर मुस्कान की लहर दौड़ गई । बोली, मुझे कुछ हुआ क्या !'

पर विनोद के उतावलेपन में ज़रा भी अन्तर नहीं आया । तड़प-कर बोला—'बतलाओ न ।'

'तुम से प्यार किया है न, तुम्हारी तस्वीर रखी थी अर्थ शास्त्र की किताब के अन्दर । सो बाबा के हाथों पड़ गई ।'

'उन्होंने मारा ।'

'वे बाबा है, वरना···'

'वरना क्या करते ?'

विनोद ने जोश में कहा, 'वरना यह करता, यह करता कि उस कसाई से···'

तभी छवि का हाथ उसके मुँह पर आगया । बोली, 'नहीं, इस तरह उनका अपमान मत करो ।'

'पर···'

वे परेशान तो थे ही । उनकी नौकरी छूट गई है ।

'क्या ?'

'हाँ उनकी नौकरी छूट गई है । मेरी पढ़ाई लिखाई बन्द कर दी है उन्होंने । बतलाओ अब कैसे बात बनेगी ?'

'मैं शादी करूँगा—'

'शादी तो करोगे—' छवि बोली, पर वे करेंगे तब न। वे तो……'

'क्या बात है कहो न।'

वे मुझे गाँव भेजना चाहते हैं। गाँव में ही कोई लड़का…'

विनोद बोला—'और तुम जाओगी। जाना चाहती हो गाँव। बोलो क्या मंशा है?'

छवि ने उत्तर दिया, 'मेरी मंशा पर शक है तुम्हें। अगर मैं जाना ही चाहती तो क्या आती यहाँ। अब बोलो क्या करना है।'

'शादी।'

'पर कैसे?'

'मैं मिलूँगा बाबा से।'

'छवि बोली, 'ना' मैं नहीं मिलने दूँगी। उनका गुस्सा खतरनाक है। हराम समझो उनका गुस्सा।'

'गुस्सा ही तो है।'

'हाँ—'

'मैं देख लूँगा। अब तुम जाओ छवि, मैं आज शाम ही आऊँगा। बाबू जी को साथ लेकर।'

'उनसे कहोगे।'

'नहीं—उन्हें आकाशवाणी होगी।'

'अच्छा तो मैं चलूँ।

'हाँ—'

विनोद खड़ा देखता रहा और छवि दूर होती गई। उसके मुलायम

बालों पर बँधे नीले रिबनों का साया उसके हल्के आसमानी ब्लाउज पर पड़ रहा था जो सुरमई साड़ी के साथ बड़ा भला प्रतीत होता था। उसके चलने में ऐसी ही अदा थी जो क्वाँरी धरती की गूँज पाकर लताओं में हो जाती है। वह मध्यम कद की एक औसतन लड़की थी जिसे जीवन में प्यार करना इस विनोद ने सिखला दिया था। उसे रह रहकर इस लड़की पर प्यार आ रहा था, पर उसे नहीं, अभी तो हिम्मत चाहिए ताकि वह इस जर्जर समाज से लड़ सके।

निश्चय ने उसकी मुट्ठियाँ तान दी थीं और वह फुर्ती से हरिनाथ के पास पहुँचना चाहता था। उसने फिर वही तरीका प्रयोग किया। उसने अपने पिता को पत्र लिखा और सब कुछ हवाला दे दिया। हरिनाथ ने पत्र पढ़ा, और पत्र पढ़कर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि उन्होंने डण्डा उठा लिया। इतनी हिम्मत, इतनी जुर्रत और इतनी तेजी से विनोद पर पिल पड़े कि वह बचाव तक नहीं कर पाया। वे मारते रहे और विनोद पिटता रहा। तड़ातड़, तड़ातड़, कमरे में कोई और था नहीं, श्री कहीं गई थी। जब मारकर हाँफने लगे तो विनोद ने हरिनाथ के हाथ से छूटा हुआ डण्डा उठाकर उन्हें स्वयं थमा दिया और एक कोने में सरक आया।

संभवत: यही स्थिति, यह गांधीवादी सिद्धान्त इस विनोद को बचा गया। हरिनाथ डण्डा फेंक कर बाहर आ गये और कराहता हुआ विनोद बिस्तर पर जा लेटा। उसके पूरे शरीर में दर्द ही नहीं, खून चू रहा था, उसने जरा भी ,आँ हूँ, न की।

पाँच

* * *

अलसाई दोपहरी की तन्द्रा टूटी नहीं थी कि कालबैल बजनी शुरू हो गई। दिव्या का यूँ लिवास सादा ही रहता है, पर उस रोज तो उसका लिवास कुछ गन्दा सा भी था। कौन होगा इस वक्त, बस इसी बात की चिन्ता थी उसे। वह आई तो सामने आगन्तिका को देखकर चौंक सी गई।

'आइये।'

'तुम।'

दिव्या ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। आगुन्तिका का शक तो इससे और भी पक्का हो गया। आगन्तुका थी उसकी चिरपरिचिता महिला निकेतन की मिस। जिसके चेहरे पर हमेशा पाउडर पुता रहता है, लिपिस्टिक नाचती रहती है और विश्वास उभरता रहता है। महिला निकेतन एक सामाजिक संस्था है जो महिलाओं में कल्याण के लिए बहुत से काम करती है। पर इससे बड़ा काम करती है इन व्यवस्थापिकों की पालना, लालन, पालन। यही संभवतः सबसे बड़ी बात थी।

'तुम...'

वह फिर ठहरी। पर रही दूर दूर ही। घर में कोई नौकर आदि

न रहने की वजह से वह ही उसे कमरे में लाई। मिस ने अपने चार तह किये रूमाल से मेकअप ठीक किया और फिर दिव्या पर उड़ती नजर डालकर बोली—'अच्छा तुम इधर काम करता है, ठीक है। हम को मिसेज रामनाथ से मिलना है।'

'जी।'

'जी क्या, उन्हें खबर करो कि हम आया है।'

'जी बहुत बेहतर।'

अब तो मिस का पारा चढ़ गया, बोली—बेहतर, बेहतर, हम नहीं समझता। तुम कैसी छोकरी हो, अरे उन्हें खबर करो। खबर हम बात करना माँगता है। उधर रामनाथ जी बोला था कि फटाफट चन्दा मिलेगा। लो, यह स्लिप दे दो।' कहकर उसने रामनाथ की लिखी स्लिप निकाली जिसमें पच्चीस रुपये के चन्दे की माँग थी।

दिव्या ने स्लिप वहीं छोड़कर दराज से पच्चीस रुपये निकाल कर कहा—'लीजिए।'

'और मिसेज रामनाथ।'

'फरमाइये।'

'तुम दिव्या तुम······'

'हाँ मैं।'

'गुड—' मिस ने अपने चेहरे पर बनावटी मुस्कान लाने का प्रयास करते हुए कहा—'बेटी गुड! तुम्हारा घर देखकर करार होता है, बधाई।'

'धन्यवाद।'

'सुनो—' मिस ने उठते हुए कहा—'हमने तुम्हारे साथ अच्छा

सलूक नहीं किया हम सारी है।'

'कोई बात नहीं मिस—' दिव्या ने पाँच का नोट और निकाल कर कहा, 'यह लो······'

'नहीं, नहीं।'

'नहीं क्यों—'

अब तो मिस के जैसे सारे बाँध टूट से गये। वह रूआँसी होकर बोली—'हम को माफ करो।'

'कैसी माफी—'

'हमने तुम्हारे साथ बदसलूक किया।'

'मेरे साथ नहीं मिस; दिव्या बोली, 'मेरे साथ नहीं किया आपने कुछ भी। आपने मेरी गरीबी के साथ किया था। अब जब वह गरीबी ही न रही तो वह दिव्या तो मर गयी। बैठिये, मैं चाय लेकर आती हूँ—'

पर मिस ठहरी नहीं, वह पच्चीस रुपये लेकर वहाँ से बिदा हुई और वह भी बिना बताये।

उस जाने के बाद कुछ देर के लिए तो दिव्या को हँसी सी आ गई।

क्या थी और क्या हो गई वह !

छः

* * *

शाम को एक अजीब दुखदायी खबर मिली, बूढ़े पुरुषोत्तम ने आत्म-हत्या कर ली।

आत्म-हत्या !

क्षण भर के लिए तो दिव्या चौंक उठी।

पर यह एक बहुत बड़ा सत्य था। सच ही बूढ़े पुरुषोत्तम ने आत्म-हत्या की थी, वह रस्सी से अपने को लटका कर अपने ही घर में खड़ा हो गया था।

जब छबि लौटी तो उसने अपना मुंह बाबा के पैरों से टकराया हुआ पाया ; वह चीख पड़ी।

बाबा ?

लोग दौड़े-दौड़े आये। सोचते थे कि लड़की पर हमला हुआ है। पर सच बात तो यह है कि लड़की पर ही हमला हुआ था।

उसका बाप, जन्मदाता, अभी तक की जिन्दगी का सहारा आत्म-घात जो कर गया था।

बाबा !

वह एक बार फिर चीखी और दहाड़ मार कर रोने लगी। आँसुओं

ने कुछ देर के लिए वह दृश्य देख लिया था कि उसका बाप बूढ़ा पुरु-षोत्तम जबड़ा निकाले खड़ा था। उसकी गर्दन बुरी तरह से झुलस गई थी और आँखों में ज़रा भी रौबीला पन शेष न था। हाँ रौबीले पन को भयानकता ने ले लिया था और अब वह मृत शरीर धरती पर पड़ा था।

मर गया पुरुषोत्तम। और क्यों मरा यह रहस्य वह हमेशा के लिए छोड़ गया।

पर यह रहस्य रहस्य नहीं रहा। शाम तक ही दिव्या को मालूम हो गया कि बूढ़े पुरुषोत्तम की इस मौत, आत्मघात में, दिव्या का हाथ कम नहीं है।

बड़ा ही साधारण व्यक्ति था पुरुषोत्तम। पुरुषोत्तम जाति का ब्राह्मण था। वह न प्याज छू सकता था न लहसुन पका सकता था। मांस, मछली पकाना, राँधना तो बहुत दूर की बात है। सारी जिन्दगी उसकी रामनाथ के यहाँ बीती थी; और आखरी वक्त उसे बेकारी भी सहनी पड़ी और भुखमरी भी यूँ पुरुषोत्तम साधारण जीव था। उसने सारी जिन्दगी मायूसी और निराशा में बिताई थी। यूँ पैसा भी था, कम से कम इतना तो जमा था ही कि वह छवि की शादी कर दे। पर इंसान साधारण हो तो उसे असाधारण होने में देर लगती है।

और यही खा गया पुरुषोत्तम को।

पुरुषोत्तम को बौखलाने के लिए नौकरी से बेकार होना काफी था। जिस पर छवि का यह प्यार। वह चाहता था जैसे भी हो छवि के हाथ पीले कर दे ताकि इस अधर्म से बच सके। पर अधर्म तो सब जगह था। कहाँ-कहाँ बचता। बहुत ज्यादा सुन्दर स्थिति नहीं थी उसकी आर्थिक। और यही कारण था कि वह बेकार होने से काफी तिलमिला गया था। वह सुबह से शाम तक या तो नौकरी खोजता था

और या छवि की चौकसी करता था। उसने छवि को इतना मारा था, इतना मारा था कि उसमें चलने फिरने की भी सामर्थ न थी।

लड़की बदचलन हो यह पुरुषोत्तम कैसे बर्दाश्त कर सकता है। पर मारने के बाद उसे अपना दोष ही दिखलाई दिया। लड़की के पैर निकलने से पहले उसे ब्याह के चक्र में जकड़ देना चाहिए। और इसके लिए उसे कुछ न कुछ कर्जा तो लेना ही होगा। कर्जा बेकार आदमी को कौन देगा, बस इसी उद्देश्य से नौकरी पाने की लालसा और भी बलवती हो गई। वह नौकरी के लिए घूमने लगा।

× × ×

सुबह शाम, शाम सुबह।

वह नौकरी के लिए घूमता।

—'हुजूर रसोइया चाहिये।'

'रसोइया।'

'हाँ हुजूर।'

'क्या पकाते हो।'

वह उत्तर देता, 'पकाता नहीं बनाता हूँ हुजूर। शुद्ध रसोई। खा लो तो आत्मा प्रसन्न।'

'शुद्ध रसोई।'

'जी हाँ हुजूर।'

'कितने तरह का मीट बना लेते हो।'

'जी मीट मैं नहीं बनाता।'

उत्तर मिलता—'मीट नहीं बनाते तो क्या झख मारते हो। जाओ हटो यहाँ से।'

और निराश पुरुषोत्तम चला आता ।

× × ×

आखिर उसे काम मिल ही गया । पर यह खाना, बनाने का नहीं चाँदी कूटने का काम था ।

सुबह से शाम वह खों-खों करता जाता चाँदी कूटता जाता । वर्क बनते जाते । रात को उसके हाथ सूजे होते । उसकी अंगुलियों में छाले होते और हृदय में अजीब सी वेदना । कभी डेढ़ रुपया बनता, कभी पौने दो । बस मामला इससे ज्यादा नहीं सरक पाता ।

उसके जोड़ीदार थे कुछ नवयुवक । जो अशिक्षित थे ।

उनके लिये पुरुषोतम एक खिलौना था, जिसमें वे तरह-तरह का चाबियाँ लगाया करते थे ।

गुल्ला, बदरी और सरजू । तीनों इस बाबा से खिलवाड़ करते थे । इसे गुदगुदाते थे, हंसाते थे और स्वयं भी हंसते थे । पर इन सबसे उस्ताद था इस चाँदीं उद्योग का मालिक । जब उसे पता लगा कि पुरुषोत्तम शाकाहारी है तो उसे उस बूढ़े को चिढ़ाने में और भी मजा आने लगा । वह क्या जानता था कि जरा सा मजाक उस बूढ़े की जान ले बैठेगा । उस दिन उन्होंने गोशत पका कर उसे खाने को दिया तो बूढ़े पुरुषोत्तम की तो आँखें जैसे फूल गईं । उसने गोशत तो खैर छुआ नहीं, पर मन एक दम विरक्त हो गया और परिणाम हुआ यह मौत ।

× × ×

ज़रा सी धटना और इतना असर ।

छवि रोती जा रही थी, क्या करे, कैसे करे । यह जरा भी उसकी समझ में नही आरहा था । मोहल्ले के कुछ लोग इकट्ठे हो गये थे और

स्वयं रामनाथ उसकी लाश को चीरा घर ले गये थे; जहाँ से जांच-पड़ताल हो जाने के बाद उसको रामनाथ ने अन्तिम क्रिया के लिये रख दिया था। यह काम इतनी आसानी से सम्पन्न हो गया कि किसी को मालूम तक न हुआ। सिवाय छवि के सब ही मौन थे।

अलबत्ता छवि जरूर रो रही थी।

रोते-रोते उसकी आँखें सूज रही थीं। सोच रही थी एक तो विनोद ने ही मिलना छोड़ दिया, रहा-सहा बाबा चल बसा। अब तो इस संसार में सिवाय गैरों के रहा कौन। उसका भविष्य क्या होगा ? बस यही चिन्ता उसे खाये जा रही थी कि तभी रामनाथ की आवाज सुनाई दी; छवि।

....

मौन रही तो रामनाथ ने पुनः पुकारा; 'छवि।'

'जी।'

'सुनो, पुरुषोत्तम मेरे परिवार का ही सदस्य था, अगर तुम बुरा न समझो तो मैं तुम्हें ले चलूँ।'

'हाँ, यह ठीक रहेगा।'

कुछ लोगों ने जो अब तक यह समझ रहे थे कि कहीं छवि उसके सामने न पड़ जाये अब कह उठे—ठीक' नहीं; बहुत ठीक रहेगा।

'पर.......'

'बेटी तू जा। बाबू जी अफसर हैं। बड़े आदमी हैं। तू इनके साथ रहेगी तो लोक और परलोक दोनों ही सुधर जायेंगे। पुरुषोत्तम क्या आदमी था। एकदम हीरा। छाती ठोक कर कहता था कि अरे हम अकेला नहीं, अकेला। सारा संसार अपना है। समझे...वह तुझे अकेला कर गया। बेटी तुझे घबराने की जरूरत तो नहीं...।'

'चलो।'

रामनाथ ने छवि को बड़ी शालीनता से उठाया और गाड़ी में बिठाल लिया। यूँ परम्परा है कि नंगे पाँव लौटना चाहिये, पर अब तो रात हो गई थी, इसलिये रामनाथ का सुझाव छवि ने मान लिया और वे दोनों पुरुषोत्तम के घर पहुँचे। उसी जगह जहाँ आकर पुरुषोत्तम खाना खाता था, पूजा करता था और लेटता था, वहाँ एक माटी का दिया रख दिया गया। जैसे इन्सान का अस्तित्व मात्र माटी का दिया है। मिट्टी ही तो; जलता है तब तक आदमी इन्सान, जीता और बुझ जाने पर मिट्टी-मिट्टी दिया की हो या कब्र की। मिट्टी हर जगह की बराबर है।

एक अन्य औरत के पुरुष छवि को करके लौटे तो दिव्या का चेहरा उदास था। उसकी आँखें सूजी हुई थीं। वह अभी-अभी समीर और किरण को सुला कर आई थी।

'दिव्या।'

'जी।'

'जला दिये बेचारे को।'

....

दिव्या चुप रही। उसे लगा जैसे कोई उसको सुला रहा हो। वह कुछ नहीं बोली। रुआँसी सी उठी, बोली, 'आप नहायेंगे। मैंने गुसल-खाने में पानी रख दिया और धोती भी।'

'अच्छा।'

'और किसी की जरूरत हो तो मांग लेना।'

रामनाथ ने देखा दिव्या के पैर भारी हो गये थे। वह बहुत जल्द ही माँ बनने वाली है, यह सोच कर उन्हें थोड़ा सा सब्र-सन्तोष और यकीन

सा हुआ और फिर अचानक सारा प्यार होने वाले बच्चे के लिये छल-छला आया ।

कैसा है इन्सान भी । घड़ी भर के लिये वह अपने सामने मौन देखता है रो पड़ता है । कराह उठता है उसका सारा शरीर और फिर अपने सामने सृजल देखता है तो उसकी बांछे खिल जाती हैं । रामनाथ बड़े इतमन से स्नानागार से निकले तो उनका मन हल्का था, दिमाग सही था और दिव्या जो अब एक कविता की पुस्तक पलट रही थी, उन्हें बैठी हुई एक चीनी गुड़िया सी नज़र आई।

यह दिव्या उनकी है—बस यही सोच कर उनका मन उछलने लगा । यह उनके होने वाले बच्चे की माँ है—दूसरे लता ने बूढ़े पुरुषोत्तम का सारा दुख, दर्द खत्म कर दिया । संभवतः सुकान्त ने सही ही कहा है ।

अब शेषे सब काज सेरे
आभार देहेर रक्ते नतुन शिशु के
कर जावो आशीर्वाद
तार पर होवो इतिहास ।

एक तरफ मौत का दिया देखते, देखते छवि के प्राण आँखों में आ रहे थे और दूसरी ओर रामनाथ और दिव्या एक नया संसार बसाने की चिन्ता में व्यस्त थे ।

आसमान फटे दूध पर फैली काली चादर की तरह था जिस पर चाँद की सहचरी चाँदनी दोनों हाथों से अपना वसन बखेरे अलसायी सी पड़ी थी । पेड़ों की शाखों पर चाँदनी सो गई थी और सन्नाटे को चीरते हुए वायलिन का मधुर आरकेस्ट्रा दूर तक फैल रहा था । रजनी गंधा

की हुलस स भरपूर मन जैसे परेशान हो गया था और चारों तरफ अजीब सी संगीतमय दुनिया बस गई थी। रामनाथ के पैरों में ही दिव्या सो गई थी। उसकी सफेद साड़ी में ढके पाँव, पिण्डलियाँ और चाँदनी में चमकती नाक की कील पर जैसे किसी ने जादू सा कर दिया था।

आरकस्ट्रा बन्द हो गया। रेडियो ग्राम का मधुर संगीत बुझ सा गया था और रामनाथ जो बहुत दिनों बाद इस तरह मौन बैठे थे उन्होंने झुककर उसे पुनः गाने से मुक्त कर दिया था।

सात

* * *

चाँदनी का आँचल भीगता गया, रात जवान होती गई और रामनाथ ओस में पड़ी दिव्या को अपनी बाहों में भरकर भीतर ले आये। इस तरह जैसे आहट न हो, प्यार न घटे, इसी तरह वह भीतर लाई गई और रामनाथ तब तक उसका मुँह देखते रहे जब तक उन्हें नींद न आ गई।

रात कब बीती किसी को कुछ नहीं मालूम हुआ। पर जैसे ही खिड़की के पास भोर का तारा आकर टिका दिव्या ज़ोर से चीख उठी—'बचाओ, बचाओ···'

'क्या बात है दिव्या !'

दिव्या अभी तक बेहोश थी। रामनाथ जाग चुके थे पर दिव्या उसी तरह बेहोश थी, उसकी आँखें उसी तरह मुँदी थीं और मुट्ठियाँ भिंची हुई थीं। अब तो सचमुच ही वे परेशान हो गये। दिव्या की चोली पसीने से तर हो चुकी थी। धीरे-धीरे उसे होश में लाया गया।

'क्या बात है।'

'बचाओ मुझे।'

कहकर दिव्या ने रामनाथ को जोर से पकड़ लिया और फिर दाँत किटकिटाने लगी :

रामनाथ ने बच्चों की तरह उसे दुलराया, थपथपाया और दिलासा दिया कि वे ही हैं उसके पास। क्या कोई सपना देखा है उसने।

'हाँ।'

'भयानक था वह सपना।'

'हाँ, था तो भयानक ही।'

'क्या।'

कई बार दिव्या ने सोचने की कोशिश की वह बतला सके कि सपना था क्या ? पर उसे कुछ भी याद न आता था।

पौ फट चुकी थी; समीर और किरण जाग चुके थे और रामनाथ किसी डाक्टर को बुलाने की व्यवस्था में थे कि दिव्या को अचानक सपना याद आगया।

सपने में वह माँ बनी थी। माँ बनना तो बुरा नहीं। आज नहीं तो कल उसे माँ बनना ही है और माँ बनना कोई बुरी कल्पना भी नहीं, फिर क्या बात हुई।

धीरे-धीरे सब उसे याद आता गया। वह माँ बनी थी और उसने फूल से सुकुमार को जन्म दिया था। कैसा प्यारा बच्चा था वह।

पर डरने की बात तो इसमें कोई भी नही। फिर क्यों चीखी वह। हाँ, याद आया—

वही बच्चा धीरे-धीरे राक्षस बन गया था। उसकी शक्ल पहले पुरुषोत्तम जैसी हुई और फिर एक राक्षस जैसी। वह राक्षस ही हो गया था। और उस राक्षस ने दिव्या का गला घोंट डाला।

गला—

आइने में जाकर देखा उसने। खरोंच का एक भी निशान न होने के बावजूद भी जाने कैसी रेखा उभर रही थी उसकी गर्दन पर। काफी

देर तक वह इस रेखा को देखती रही और भय से काँपती रही। हो सकता था वह गश खाकर गिर ही जाती अगर तभी वहाँ रामनाथ न आते तो। रामनाथ अकेले नहीं आये थे। उनके साथ डाक्टर अरोड़ा भी थे और उनके साथ ही थी एक साँवले रंग की नर्स भी।

'नमस्ते।'

'नमस्ते, बैठिये।'

दिव्या को भी बैठना पड़ा और बैठते-बैठते एक बार उसकी आँखें ड्रेसिंग टेबल पर घूम गई जहाँ अब उसके गर्दन की रेखा नहीं उसकी साड़ी के छपे कत्थई रंग के बड़े-बड़े फूल चमक रहे थे।

'कै ी तबियत है।'

'दुआ है—आपकी।'

डाक्टर अरोड़ा ने उसकी नब्ज देखी, दिल की धड़कन देखी और फिर कहा—'शी-इज़ प्रेगनैन्ट।'

'यस।'

'शी इज शाम्ड।'

'हाँ, शाम ही लगा है उसको। ऐसा लगता है जैसे डर गई हैं। कोई सपना देखा था।'

'ड्रीम।'

'जी हाँ।'

डाक्टर अरोड़ा ने बतलाया उसका दिल कमजोर है। मुस्करा कर बोला—शी इज़ टू वीक, टू हैव ए चाइल्ड।

'जी है तो।'

डाक्टर अरोड़ा ने नुस्खा लिखते हुये कहा—अगर कहीं आप बाहर जा सकें तो ठीक रहें।'

'जी बहुत बेहतर।'

डाक्टर अरोड़ा ने फीस जेब में डाली और बाहर आ गये। साँवली सी नर्स वहीं रह गई।

'आप…'

'जी, मेरा नाम कान्ता है।'

'कान्ता।'

'जी हाँ, मिस कान्ता।'

नर्स दिव्या को प्यारी लगी। यूँ भी उसे अपनी जान से बेहद प्यार था। पर इस कान्ता के चेहरे पर तो ऐसा मासूम प्यार झलकता था कि वह क्षण भर में ही उसकी हो गई। कान्ता नर्स है और डाक्टर अरोड़ा की नौकरी में है। और डाक्टर अरोड़ा एक ही कंटक आदमी है सवा सौ पर दस्तखत कराके सत्तर ही पकड़ाते थे और फिर जहाँ भेजते थे वहाँ से दस बीस रुपये प्रति दिन वसूलते थे। कान्ता का आर्थिक ढाँचा काफी बिखरा हुआ था इसलिये वह और भी ज्यादा नम्र थी।

सारे दिन वह दिव्या के पास रही पर संध्या फिरते-फिरते ही अचानक बूढ़े पुरुषोमत्त के ख्याल ने दिव्या को फिर परेशान कर दिया। पर रामनाथ ने आकर स्थिति सम्हाल ली थी और इस उदास बोझिल मौसम में वे फिर सोने चले गये थे। पर आज न तो आरकेस्ट्रा की धुन बजी और न ओस में दिव्या ही सोई। फिर भी जब मस्जिद में अजान होने से पूर्व ही दिव्या काँप उठी। वही सपना, वही चीख।

'बचाओ।'

'क्या बात है?'

वह उसी तरह काँपती हुई कह रही थी: 'बचाओ'

'दिव्या।'

दिव्या...'

रामनाथ ने उसे फिर होश में लाने का प्रयास किया और साथ ही डाक्टर अरोड़ा की बात भी उनके दिमाग में बैठ गई कि उसका स्थान परिवर्तन होना जरूरी है। पर सवाल तो समीर और किरण का था। रामनाथ उन्हें साथ ले कर भी न जाना चाहते थे और अकेले छोड़ कर भी नहीं। इस समस्या को कान्ता ने हल कर दिया। वह उनके पास रहने को तैयार हो गई थी।

× ×

धकधकाती गाड़ी दौड़ रही थी; तेज, बहुत तेज और दिव्या खिड़की से सर निकाल कर देख रही थी, दूर लहलहाते हुये खेत, भागते हुये तार के खम्बे और उन सबसे आगे भागता हुआ मन।

पूरा एक मास नहीं हुआ था कि क्या-क्या परिवर्तन उसमें आ गये थे।

उसकी बीमरी की खबर सुनकर हरिनाथ आये थे। उनका पूर्ववत: स्नेह देख कर उसे अपने से कुछ-न-कुछ ग्लानि ही हुई थी, प्यार नहीं।

काफी देर तक वे उसका हाल-चाल पूछते रहे थे। हरिनाथ का मन भी दुखी था। विनोद को जो मार उन्होंने लगाई थी वह उनके दिल को अब तक साडे डाल रही थी। पर वह था कि अभी तक चारपाई छोड़ कर उठ भी न पाया था। उसका मन अचानक अपने प्रति घृणा मे भर आया। हाय, अगर वह विनोद से सही व्यवहार करती तो क्यों नौबत आती।

विनोद, सुधीर और वह !

वह सोच रही थी और गाड़ी भागी जा रही थी, दूर उत्तराखंड की गोद में।

आठ

* * *

उत्तराखण्ड का छोटा सा, पर महत्त्वपूर्ण तीर्थ है ऋषिकेष। एक तरह से उत्तराखण्ड का द्वार है यह। बद्रीनाथ के लिये सब यात्री यहीं आकर पहला विश्राम लेते हैं। यहां रेल आकर अपना मुँह छिपा लेती है पहाड़ की तलहटी में और गंगा का उग्र रूप शुरू हो जाता है।

दिव्या ने आकर यहीं डेरा जमाया। रामनाथ भी मसूरी जाने को सोच रहे थे; पर दिव्या को यह तीर्थ ऐसा मन भाया कि गद्‌गद् हो गई।

जहाँ दिव्या ठहरी थी, उसके कुछ दूर पर ही गंगा बहती थी कलकलाती, झिलमिलाती और आसपास खड़े हुये थे ये कुछ वटवृक्ष और तुलसी के पौदे।

उस शाम अचानक किसी ने दरवाजा खटखटाया। रामनाथ आलस-मुद्रा में किसी पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे।

'आप···,'

'जी हाँ—'

दिव्या ने ही दरवाजा खोला था, और अपने सामने खड़े अनजान

व्यक्ति को देखकर शरमा सी गई थी, यह व्यक्ति कोई संगीतकार सा जान पड़ता था। उसके सिर पर दुपल्ली टोपी थी और तंजेब का कुर्त्ता। उसके बोलने चालने, में लखनऊ के अतीत का स्मरण हो आता था। उसके साथ एक सोलह साल की सुकुमार लड़की थी जो अब तक किवाड़ की ओट में थी। दिव्या का सहम जाना उससे छिपा न रहा।

'आप।'

'जी हाँ—'

'लेकिन मैंने आपको पहचाना नहीं।'

'जी हाँ। जान पहचान तो मिलने के बाद ही होती है और भगवान की दया से हमतो पहली बार एक दूसरे को देख रहे हैं। क्या मैं आप से गुजारिश कर सकता हूँ।'

'फरमाइये।'

'ये कला हैं, मेरी मालकिन की इकलौती निशानी।'

'जी।'

'क्या गला पाया है भगवान की दुआ से कि गाती हैं तो बादल उमड़ने लगते हैं।'

'पर हमें तो किसी गाने की······'

उस व्यक्ति ने पुनः बात काट कर कहा—'हाँ ; हाँ—क्या कर रही हैं आप। अपमान मत कीजिये कला का। आपको जरूरत नहीं, जरूरत हमें हैं। बात दरअसल यह है कि इनकी नथ टूटनी है। और···'

'क्या आप—'

'जी हाँ हम कलकत्ते के मशहूर···' आगे उस व्यक्ति को कहने की जरूरत न पड़ी। दिव्या ने दरवाजे से ही उन्हें विदा करने के इरादे से कहा,' ऐसा महसूस होता है आप गल्त जगह आये हैं।'

'जी नहीं—' उस व्यक्ति ने कहा—'हम बिल्कुल ठीक आये हैं।'

'तो फिर—'

'दरअसल बात यह है कि आपके आँगन में कई तुलसी के पौधे हैं। उनमें से एक तुलसी के पौधे से हम अपनी कला का ब्याह रचाना चाहते हैं। सो उसी की इजाजत चाहते हैं। समझीं—'

'हाँ समझ तो गई। पर आप कल आइये।'

'और शादी—'

दिव्या ने कहा—'बात दरअसल यह है कि यह पौधे हमारी संपत्ति नहीं हैं। आप कल आइये तो पूछ रखूंगी मैं—'

'जी बहुत बेहतर।'

उस व्यक्ति ने भी और उसके साथ आई लड़की ने भी दोनों ने उसे अभिवादन किया। पर उसके अन्दर का अन्तर इन्हें स्वीकार न कर सका। युवावस्था से उसका मन भर भर आ रहा था, वह दरवाजा बन्द करके लौटी, फिर थपथपाहट शुरू हुई। दिव्या ने पुनः दरवाजा खोला। वे ही थे। वह व्यक्ति बोला—

माफ कीजिये। तकलीफ तो आपको हुई ही। पर मेरा नाम तो आप जान ही लीजिये। तरंग कहते हैं मुझे। बेटी कलानिधि प्रणाम तो करो। साक्षात् दुर्गा का स्वरूप हैं ये…'

लड़की में संभवतः मान-अपमान की भावना ज्यादा थी। वह उसी तरह गुमसुम खड़ी रही और दिव्या ने मुस्कराने का प्रयास करके दरवाज़ा बन्द कर दिया।

नौ

* * *

ब्याह !

तुलसा भैया से ब्याह होगा, उस मुँहबन्दे लड़की का। एक मुँह बन्द कली का ब्याह एक तुसली के पौधे से हो जायेगा और उसकी नथ को कोई आवारा आदमी, अधेड़ व्यक्ति तोड़कर चलता बनेगा। बैठ जायगी वैश्या नहीं होगी तो क्या होगी। फिर जब शरीर ही बेचना है तो इस ढोंग का मूल्य, दूसरी आवश्यकता। दिव्या ने सोचा और सोचती ही रह गई।

ब्याह—

उसने फिर सोचने की कोशिश की। पर ज्यादा देर एकाकीपन उसे नहीं मिल पाया। रामनाथ जाग गये थे और अपने सपनों की राजकुमारी को इस तरह अस्त व्यस्त देख कर जरा चुप रहे गये थे। उनका मन ठीक उस बालक की तरह मचल, मचल कर परेशान हो जाता था जिसने बड़े मन से अपनी खेलने की चीजों का संचय किया था और अब वह उन्हें सहेजता सहेजता परेशान हो उठता था।

'दिव्या जी।'

'हाँ—'

'कैसी तबियत है।।

'कैसी बताऊँ।'

'क्यों ठीक नहीं है ?'

'हाँ है तो ठीक ।'

'फिर घूमने चलोगी न ।'

'घूमने ?' दिव्या ने कुछ सोचा । 'तो उसे घूमना ही होगा । क्यों न घूमे । वे लोग आये हैं । और फिर इन मनोरम घाटियों में ऊँचे-नीचे पहाड़ों में घूमने का अपना रस है, अपना आनन्द है । क्यों न घूमे उसे ज़रूर, ज़रूर घूमना चाहिए । पर जैसे ही वह घूमने की बात सोचती है न जाने उसके मन में क्या उठता है कि वह डर भी जाती है । उसे ऐसा महसूस होता है जैसे कहीं किसी पहाड़ी की ओट में खड़ा बूढ़ा पुरुषोत्तम उससे अपने खून की कीमत माँग बैठेगा । उसे पकड़कर अपनी मौत का बदला लेगा । उसे हत्यारी और जान लेवा कहकर सम्बोधित करेगा ।

'नहीं—'

उसके ओंठ अक्सर मिच जाते थे और वह अक्सर ही अपने आपको पुरुषोत्तम से बचाने का प्रयत्न करती थी । पर क्या करे वह । न उसके हाथ में मौत है और न जिन्दगी । साथ ही वह यह भी जानती थी कि अब उसका एकमात्र सहारा रामनाथ है । अगर वह भी छिन गया तो उसकी मौत निश्चित है । इसलिए जैसे ही रामनाथ ने घूमने का प्रस्ताव किया वह मान ही गयी और घूमने का प्रोग्राम भी तय हो गया ।

दस

* * *

दूर तक धूप फैली थी। उजली, बहुत उजली धूप चट्टानों पर पड़ रही थी और कलकलाती गंगा अर्रा रही थी।

'देखो।'

रामनाथ ने संकेत से बतलाया, दूर गंगा में बहता एक छोटा सा लकड़ी का लट्ठा।

'देखा।'

'जी—'

गति निर्जीव को भी जीव, स्थिर को भी गतिवान बना देती है।

'जी।'

'ठीक तुम्हारी तरह।'

'जी ऽऽ'

रामनाथ बोले—'डरो मत' तुम न ोतीं तो जानती हो क्या होता।'

दिव्या मौन रही।

रामनाथ ने पुनः कहा—'देखो' दूर उस सूखे वृक्ष को। ठीक ऐसी ही जिन्दगी थी मेरी। पर तुम आईं, मेरे अन्दर में जैसे मैं जाग उठा।

बहार नाच उठी, कि वसंत खिल उठा। पर मैं उसी तरह उदास हूँ।'

'मुझसे कोई भूल हुई।'

'हाँ।'

'क्या ?'

'बतला दूँ।'

दिव्या ने साधारणतया कहा— 'बिना बतलाये मैं कैसे जानूँगी ?'

'नहीं जान पाओगी।'

'न।'

'नरगिस देखी है।'

'हाँ—'

'आँखें होते हुये भी बेनूर हैं।'

'हैं तो।'

रामनाथ बोले—ठीक उसी तरह तुम्हारा चेहरा देखकर मेरी खुशी को जैसे मोर चुरा कर ले जाते हैं। मुझसे कुछ मत छिपाओ, दिव्या मुझे सच, सच बतला दो, आखिर बात क्या है। मेरी रानी मुझसे कुछ मत छिपाओ, दिव्या बतला दो न···?'

प्रत्युत्तर में दिव्या रोदी और रामनाथ उसके आँसुओं को देखकर डर सा गया।

'नहीं बतलाना चाहतीं। न बतलाओ। तो, आई डू, नॉट वाँट दिस······'

पर दिव्या रोती ही रही और रामनाथ हताश होकर वहीं खड़े हो गये।

उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि क्या कहें, वह इस रूप की रानी से—सुखों और वैभव की सुकुमार देवी से जो अनचाहे ही में पतित बादल की तरह जब चाहे तब ही बरस पड़ती है।

दूर मल्लाह गा रहे थे।

मेरा तो हाथ अकेला है।

और तूफान हैं हजार।

'सच तूफान हजारों ही हैं।'

रामनाथ सोचने लगे पहली बार उन्होंने सोचा कि उन्होंने बहुत बड़ी गलती की है दिव्या से शादी करके। क्या नहीं था उनके पास। अनजाने में ही उन्होंने एक कली को मसल डाला था। एक फूल जैसे असल तिलमिला कर खुशक हो गया था। जाने कैसी स्वप्न-मयी रही होगी ?

और अपने कृत्य पर अचानक ही उन्हें क्रोध आ ही गया। उन्होंने फैसला कर लिया कि अब वे ज्यादा नहीं मनायेंगे दिव्या को। इसलिए उन्होंने उसे अकेले छोड़ने का उपक्रम किया।

'दिव्या—'

'जी ऽऽ'

'तुम बैठना पसन्द करोगी यहाँ।'

'हाँ...'

'तो बैठो न।'

दिव्या बैठ गई। जाने कैसी अनजानी स्मृति जाग उठी कि रामनाथ ने दिव्या के कपोल को दोनों हाथों में उठाया। दिव्या जैसे सिहर उठी। उसने कल्पना की थी कि कली कितनी नाजुक होती है, पर आज उसे

महसूस हुआ कि कली से भी नाजुक आँसू होते हैं; जो बेमतलब चू पड़ते हैं और रामनाथ की हथेलियों में दबा दिव्या का कपोल, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों पर उभरता हुआ एक दर्द, जिन्दगी से मिलता-जुलता स्वर और उसी के आसपास तैरती घाटी की टीस जैसे वाषमय बन कर ढुलक आई थी और दिव्या में उसका एकाकार हो गया था।

जाने क्या आया दिव्या के मन में धीरे से बोली—'आप नाराज़ हो गये ?'

'नहीं तो।'

'आप परेशान हैं ?'

'नहीं तो।'

'हो तो सही।'

'हाँ हूँ तो।'

'क्यों।'

'पूछोगी ही।'

'हाँ।'

'तो सुनो—' कह कर रामनाथ मौन रह गया। दिव्या ने धीरे से उसका हाथ सहलाकर कहा—'सुना रहे थे।'

'हाँ सुना तो रहा था। पर क्या बताऊँ दिव्या। अच्छा तुम यह तो जानती ही हो कि चाँद के तो पास रोशनी नहीं होती। वह सूरज की रोशनी माँगता है। वही लेता है—समझ गयीं न। मैं भी एक ऐसा ही चाँद हूँ, जिसका सूरज भटक गया है जिसके सूरज ने प्यार की गरमी देने की बजाय ओस के आँसू देने शुरू कर दिये हैं। अब तुम्हीं कहो कि परेशान होने वाली बात नहीं है क्या।'

'मैं सूरज हूँ।'

रामनाथ बोले—

'बेशक तुम सूरज हो।'

'तो फिर माँगो क्या माँगते हो सूरज से।'

'माँग लूँ।'

'हाँ।'

'प्यार!'

'लो—'

दिव्या ने रामनाथ का हाथ अपनी आँखों से लगाया, तो उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे पत्थर अपनी आँखो से लगा लिया हो। एकदम शिथिल स्पर्शहीन और गौरव से मुक्त। बस एक पत्थर का टुकड़ा ही था वह। क्षण भर बाद ही झटक दिया उसने।

एक सम्पर्क जो जाने कब से अन्तराल में भटक रहा था, वह टूट गया और उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे यह हाथ पुरुषोत्तम का हाथ हो।

हाथ झटक कर वह बोली—'नहीं।'

'क्या हुआ।'

'नहीं—'

और बिना उत्तर दिये उसने मुँह फेर लिया।

ग्यारह

***

आकाश का पहला तारा गंगा में नहाकर टिमटिमा रहा था कि वह उठा।

उसके सामने थी मूरत और कोई नहीं दिव्या ही थी। पर वह पगली दिव्या नहीं। यह दिव्या तो दुल्हन दिव्या थी। शादी का जोड़ा पहना हुआ था। उनका सर लज्जा से झुका हुआ था।

तीसरे पहर अनायास ही उसे वे आमंत्रित मेहमान याद आगये जो तुलसी के पौधे से शादी रचाना चाहते थे। वे दोनों एक ढोंग प्रतिपादित करना चाहते थे और एक ढोंग वह निभाना चाहती थी।

उसका ढोंग भी मन का दिलासा था और उसने भी जाने कैसे शादी का जोड़ा निकाल लिया था। घटना यूँ हुई कि जब आलसता को भंग करके वह अपने डेरे पर पहुँची तो अचानक उसे अपना घर, अपना सपना याद आगया और वह तिलमिलाती सी लैम्प खोल बैठी। फिर तो उसने उन सपनों का क्वारापन उतार देना चाहा जो अभी तक क्वाँरे थे। उसने सारे गहने पहन लिये और सजधज कर आइने के सामने जा खड़ी हुई।

काँप गया आइना।

पर यह क्या ?

इस नव विवाहित सुन्दरी के पीछे यह बूढ़ा।

हाय यह तो पुरुषोत्तम ही है।

हाय ! ······

और कटे वृक्ष की तरह दिव्या बेहोश सी होकर गिर पड़ी थी। असलियत थी कि उसने देखा नहीं। नहीं देखा था रामनाथ ने।

जब वह चेतन हुई तो उठ खडी हुई। अब आइने में एक भयभीत लड़की का चित्र था जो रो रही थी और उसकी यह नाकाम कोशिश याद दिला रही थी कि उसके सपने अब भी अटपटे हैं, क्वाँरे हैं, हमेशा आजायें न।

सोचती थी उसे मृत्यु मिलेगी; वह मौत को गले लगा लेगी। मौत उसे टेरती रहेगी और वह झट से कूद पड़ेगी यमराज के पास।

कहेगी दो मुझे सजा। वैसे मैंने सजा पाने की गलती नहीं की है। फिर भी मैं दण्ड से डरती नहीं, घबराती नहीं, दो मुझे सजा।

कैसी शान्ति थी मन को।

ऐसा लगता था जैसे वह अथाह शान्ति की गोद में जा रही हो। उसने कहीं पढ़ा था कि मरने के बाद आदमी ऐसी जगह जाता है जहाँ विचित्र और अद्भुत प्रकाश होता है। यम उसे डराते और धमकाते हैं, पर यह क्या किसी ने तो उसे उल्टा बचा लिया था।

हाय रे नरक कुण्ड !

पर उसने तो आँखें खोल दी थीं, सामने वही गंगा थी, और वह हाँफ रही थी। तो वह गिरी नहीं। एक कल्पना थी जो उसे गिरने पर उतारू किये दे रही थी और एक सत्य था जो उसे रोके हुए था।

यह सत्य था सुधीर। उसने सुधीर का अनावश्यक ही महसूस नहीं किया था। वह यहीं ट्रेनिंग ले रहा था और शाम को घूमने आया

ज़रा से इस चिंतन ने उसके दिमाग में ऐसी ही भावना भर दी थी कि वह सिवाय अपने को मारने के और कुछ नहीं सोच पाती थी।

और फिर है भी क्या बाकी।

मृत्यु ही उसका एक मात्र सहारा।

मर ही जाना चाहिये उसे।

'मौत।'

उधर कलकलवाद से गंगा भरी पूरी थी। ऐसा लगता था जैसे वह उसे पुकार रही हो। कह रही हो—आजा मेरी पुत्री, आजा, तू जीना नहीं चाहती तो आ, मेरी गोद में विश्राम कर। आ…'

'तुम्हारे इस कृत्य का।'

'क्या सच ही मैं…'

'नमस्कार—'

बड़ी विनम्र स्वर में दिव्या नीचे झुकी और चली गई अपने डेरे पर। अकेला सुधीर खड़ा था और गंगा में सैंकड़ों आशा दीप नहाकर निकल चुके थे। अँधेरा फैल रहा था और सुधीर एक हारा हुआ इन्सान, पराजित व्यक्ति देख रहा था कि उसका प्यार, उसकी जिंदगी उसके दामन से छिटक कर दूर जा रही थी और वह देख रहा था, अकेला, एक टक, एक मन।

यही है उसका प्यार और उसका अन्त। अतीत याद आया सुधीर को और आँसू चू पड़े सुधीर की आँखों से।

बारह

* * *

सुधीर,

तुलसी के उस पौधे के पास किसी अन्य को उपस्थित पाकर ऐसा लगा दिव्या को जैसे सुधीर खड़ा हो। काँप गई वह। क्या चाहता है वह !

'क्यों आये हो तुम ?'

'कौन।'

स्वर सुधीर का नहीं रामनाथ का था।

'आप।'

'हाँ—'

दिव्या ने एक गहरी साँस ली और पलंग पर आकर पड़ गई। रामनाथ एक अरदली की तरह उसके नज़दीक आकर खड़ा हो गया।

'क्या बात है दिव्या।

'घर चलो।'

'घर।'

'हाँ...'

'कहाँ...'

दिव्या ने बात काटकर कहा—'यहाँ नहीं रह सकती मैं ।'

'क्यों ।'

प्रत्युत्तर में दिव्या ने अपना कातर चेहरा रामनाथ के वक्षस्थल से सटा दिया और अगली सुबह उन्होंने ऋषिकेष इस रम्य स्थल से विदा ले ली ।

वही घर, वही बच्चे और वही आया । वही कलान्त-छवि, वही परेशान हरिनाथ और वही भीड़ भरी दिल्ली ।

फाँसी दी थी इसी को । ऐसा महसूस हुआ, जैसे बहुत बड़ा भार आ पड़ा हो दिव्या के ऊपर । ईसा को फांसी हुई ; महात्मा गांधी जी को गोली लगी और पुरुषोत्तम, सबसे ज्यादा मौन समाफिली इस इन्सान ने ।

सोते सोते दिव्या काँप उठी थी । कैसा अजीब सपना था यही भोर का सपना था यह । वही पुंनरावृत्ति—वही पुत्र जन्म ; वही साक्षात्वृत्ति ।

कभी दिव्या काँपती थी पर उस दिन नर्स के हाथ में
ढाई सौ रुपये थे और उसके माथे से पसीना चू रहा था ।

ढाई सौ रुपये, छोटा सा कृत्य । या कितना भयानक, कितना दुख पूर्ण । उसे करना ही होगा यह ।

दिव्या ने ढाई सौ रुपये दिये थे, उसे । इस शर्त पर कि अगर लड़का हो तो वह उसे प्रकाश नहीं दिखायेगी, होते बच्चे का गला दबाना ज्यादा कठिन नहीं है ।

इसी काम का ढाई सौ रुपया।

....

कैसे, कैसे आर्थिक संकट मडंराते हैं उस पर। इन सब का अन्त होगा ही। वह लड़की को जिन्दा रखेगी और लड़के को मार डालेगी।

'हाँ मार डालेगी।

नर्स के माथे पर पसीना चू रहा था। और दिव्या, उसी दिन उसने अपने कमरे से ईसा का यह चित्र हटा डाला था।

खाली दीवार पर तीन चार कीलें शेष थीं!

तेरह

* * *

पीड़ा के स्वर नहीं होते, पर दर्द की लहरें जरूर अन्तर के छोर से दूसरे छोर को छूती चलती हैं। ज्यों-ज्यों प्रभात वेला नज़दीक आती जा रही थी दिव्या का पागलपन बढ़ता जा रहा था। वह अधिक क्लान्त, दुःखी और बेचैन होती जा रही थी। रात-दिन उसे पुरुषोत्तम का भय सता रहा था।

'बेटी···'

दिव्या ने सिर उठाया, सामने हरिनाथ खड़े थे। वह उठी। झुकते हुये बोली—'नमस्कार, पिता जी।'

'जियो बेटी।'

'बैठिए।'

'मैं चलूँगा बेटी! तेरी माँ ने यह मुरब्बा भेजा है।'

'अच्छा पिता जी।

हरिनाथ चले गये। आये थे तो बड़े भयभीत थे। दिव्या के साथ-क्या किया है उन्होंने? वह कुछ कह बैठी तो।

पर जब से वे बाहर आये तो उनका मन हल्का था, बेहद हल्का।
रोज जो कह रही है उनकी बेटी।

चौदह

* * *

नर्सिंग होम के छोटे से कमरे में दिव्या लेटी दर्द से छटपटा रही थी।

बाहर खड़े थे युकल्पिस के ऊँचे-ऊँचे पेड़; जो हवा में काँप रहे थे। जिनके अन्दर से पीड़ा सिहर रही थी और दिव्या देख रही थी अपना अन्त। हवा की सनसनाहट जैसे उसे साले डाल रही थी।

अभी कुछ देर पूर्व रामनाथ आये थे। थपथपाकर चले गये थे उसे। चारों तरफ जो घनी भूत जड़ता पाई गई थी, उसमें अन्तर आ गया था एकाएक और चारों तरफ वेदना का उमड़ता हुआ सागर एकाएक आकर थम गया था।

एक नये दिन की याद में दिव्या आँखें मूँदे पड़ी थी।

चारों तरफ शोर था, चीत्कार था और जहाँ, तहाँ बाकी माताएँ नवजात शिशुओं को बगल में डाले लेटी थीं।

खट, खट नर्स के पैरों में सजे ऊँची सैंडलों का शोर उपरोक्त शोर से स्वर मिला रहा था।

ऐसा महसूस हो रहा था जैसे कोई उसके अन्तर को झिंझोड़ रहा हो। जैसे कोई उसका पलंग चीर रहा हो। वह दर्द से चीख पड़ी—
'माँ ऽऽ'

नर्स दौड़ती हुई आई और बेहोश दिव्या को उसने उठा लिया।

पौने छः बजे थे घड़ी में।

पंद्रह

* * *

टिक, टिक, टिक।

एक अन्तकाल, काफी बड़ा अन्तकाल, पूरे पौने ग्यारह घण्टे का अन्तकाल।

साढ़े पाँच बजे थे।

नर्स के हाथ में ढाई सौ रुपये काँप रहे थे। उसका शरीर पसीने से लथपथ था और वह अभी नाइट ड्यूटी बजा चुकी थी। सपनों की दुनियां संजोये मरीज रह, रहकर जाग उठते थे।

पर दिव्या सोई हुई थी।

उसी तरह जैसे कोई हारा थका हुआ मुसाफिर मंजिल पर आकर सो जाता है आराम से।

सपनों का संसार उसे बुला रहा था।

जाने कौन सा लोक है वह। यह प्यारा सा नर्सिंग होम, ये खिल-खिलाती कलियाँ, ये चटकते फूल, ये नर्म, सी पत्तियाँ सोने का रूम और एक नवजात शिशु।

लड़का है यह।

ठीक सुधीर की तरह, ठीक रामनाथ की तरह। आह! कैसा सपना उसका। कितना प्यारा, कितना सुकुमार। अचानक पुरुषोत्तम का

चेहरा झाँई, माँई करने लगा उसमें और दिव्या के हाथ जैसे बढ़ते गये। गजगज भर के हो गये नाखून।

सुकुमार बच्चा नाखूनों में आगया। उसका गला रूँध गया। उसकी सुकमारता जैसे मिट गई। एक फूल को जैसे मसल दिया हो। उसकी कोमलता, कमनीयता मिट गई और चारों तरह अन्धेरा ही अन्धेरा छा गया।

खून के धब्बे जैसे सारे नर्सिंग होम पर छा गये, और वहाँ का कण कण रक्तमय हो गया था। वह प्यारा नर्सिंग होम वह प्यारा सायंकाल, वे खिलती कलियाँ, चहकते फूल, वे परियो सी नर्सें, वह सोने का लेवर रूम सभी खून की लालियों में जैसे सिमट गया था और चारों तरफ बंजर धरती निकल आई थी। जहाँ नर्सिंग होम था, वहाँ खाई और खण्डहर निकल आये थे।

पर ये सब खून से सने।

दिव्या!

अपने चेहरे को देखकर दिव्या काँप उठी। वह दीवानी दिव्या। गजगज भर के नाखून।

'खून...'

दिव्या चौंक उठी।

उसके कमरे की नर्स जैसे सिटपिटा गई थी, और दिव्या उससे अलग हटती, छिटकती हुई, इधर, उधर देखकर चीखी—'नर्स।'

'हाँ—'

नर्स बाहर से भीतर आई। उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, उसके माथे पर पसीना चू रहा था और वह थर थर काँप रही थी।

'नर्स—'

दिव्या फिर चीखी । उसके चीखने में भय था, जो न जाने कब का उसका चिरस्थायी बन चुका था ।

'पैसा—'

'मेरा बच्चा…'

'लड़का हुआ था, तुम्हें ।'

कहाँ है वह ।

'वह—' नर्स ने बड़ी कठोरता से, बड़े तैश के साथ उसे देखा और देखकर बोली—'वह तुम्हें नहीं मिलेगा ये सम्हालो अपने ढाई—सौ रुपये और…'

'मेरा बच्चा…'

'तुम्हारा बच्चा जिन्दा है, पर मैं तुम्हें नहीं दूँगी । तुम्हारे हसबैण्ड आजायेंगे तो मिलेगा…'

'नर्स प्लीज…'

नर्स बोली—'मैं मजबूर हूँ, मिसेज रामनाथ । आई एम सारी…'

'हूँ…'

'तभी बच्चे की स्वाभाविक चीख ने दोनों को चौंका दिया ।

पास ही पालने पर बच्चा चीख रहा था, और दूर प्राची में भास्कर उदय हो रहा था । वृक्ष की शाखायें पक्षियों की यह चहचहाहट से आबाद थी, चारों तरफ सुबह का उजाला फूट रहा था और अँधेरा क्षीन होता जा रहा था ।

दूर कोई गा रहा था :

जागो मोहन प्यारे !

दिव्या को ऐसा लगा जैसे इस नर्स ने उसे जीवन दान दिया हो

और पुरुषोत्तम का भय उसके दिमाग से जन्म, जन्म के लिए उतर गया हो।

अन्निमा

....

दिव्या की कथा समाप्त हो गई। खत्म तो खैर कोई भी कथा नहीं होती, अलबत्ता कथाकार यह कहना चाहता है कि दिव्या की कथा यहाँ विश्राम -लेती है। पर यह अकेली दिव्या की कथा नहीं है। हिन्दुस्तान में क्या पूरे विश्व में ऐसी सैकड़ों लड़कियाँ मिल जायेंगी। उनमें बहुतों का रूप आसके, बस यही कथाकार की अन्तिम साँस होती है।

आपने क्वाँरा सपना पढ़ा। जरूर कोई न कोई प्रतिक्रिया हुई होगी। यह प्रतिक्रिया सच पूछो तो कथाकार के लिए पारस-पत्थर है। पाठक ही कथाकार के सच्चे आलोचक होते हैं; कम से कम इस लम्बी लघु कथा के लेखक को तो ऐसी ही आस्था है।

आपकी आलोचना, आपके सुझाव, आपके स्नेह बोल पाकर लेखक अपने को आभारी समझेगा और संभवतः इसी में उसकी कथा शैली, कथा, कला की मान्यता जन्म लेगी।

इसी आशा से कि आप लेखक को ११।८२, आनन्द पर्वत नई दिल्ली—५ के पते पर अपनी प्रितिक्रिया भेजेंगे, लेखक विदा लेता है ताकि वह इस जीवन में बिखरे अन्य महत्वपूर्ण पात्रों को आपके सामने ला सके।

नमस्कारांते